संघर्ष और शान्ति

[मौलिक कहानियाँ]

लेखिका

पुष्पा महाजन

राजपाल एण्ड सन्ज़

कश्मीरी गेट, दिल्ली-६

कहानी-क्रम

नव निर्माण

"यह देखो मानवता का अभिशाप !"

कुमार ने चौंककर देखा, उसका मित्र सुधीर एक भिखारिन की ओर संकेत कर रहा था। भिखारिन कदाचित् नेत्र-हीना थी, क्योंकि एक सात-आठ वर्षीय बालक लाठी थामे उसका पथ-प्रदर्शन कर रहा था। भिखारिन के वस्त्र मलिन व जीर्ण-शीर्ण थे। बड़ी सतर्कता से वह इधर-उधर बिखरे आँचल को सँवार लेती। स्थान-स्थान से उसके दारिद्रय को प्रदर्शित करने वाले वस्त्र उसकी स्त्री-सुलभ लज्जा की रक्षा कहाँ तक कर रहे हैं, इसका एक मात्र आधार वह आँचल ही तो था। बालक के वस्त्र भी फटे थे, उनके ऊपर काले रंग की वास्कट, जिसे मैल की तह और भी मैला बना रही थी, पहिने था। नंगे पाँव जिनमें शैशव की कोमलता नहीं, बेवाइयाँ फूट रही थीं। केश रूखे और उलझे हुए, तेल डाले जैसे युग बीत गया हो। मुख गोरा किंतु ग्रीवा और मस्तक पर कुछ कालिमा। हाथ फटे हुए और खुरदरे।

वे दोनों माँ-बेटा कभी एक पथिक का मार्ग रोकते कभी दूसरे का। बालक मौन भाव से आगे बढ़ता जाता और अंधी गाती-गाती उसका अनुसरण करती।

"भला करे भगवान तुम्हारा"

"ईश्वर के नाम पर एक पैसा"

"पेट के लिये कोई भोजन दो"

इसे गाना नहीं कहा जा सकता। तो भी अंधी इसे लम्बी तान लगाकर इस लय से गाती कि किसी गीत की लड़ी-सा सुन पड़ता। जब कहीं बालक उसकी लाठी टेक देता तो वह समझती, कोई दयालु पथिक है। तब वह आशीर्वादों की झड़ी लगा देती!

"दाता तेरा भला करे।"

"बहू का सोहाग अटल रहे।"

"बच्चे जीते रहें।"

इन आशीर्वादों के फलस्वरूप कोई द्रवित हो जाता, तो कोई दो-चार गालियाँ सुना देता। कभी-कभी तो अंधी के शून्य नेत्रों से दो-चार अश्रुबिन्दु भी गिर जाते। तब बालक किंकर्तव्यविमूढ़-सा लाठी आगे ले जाता।

बालक ने प्रार्थी नेत्रों से दोनों मित्रों की ओर देखा और लाठी टेक दी। अंधी आशीर्वाद देने लगी: "बहू का सोहाग अटल रहे···।"

सुधीर हँस पड़ा: "यहाँ तो बहू ही नहीं है, सोहाग किसका अटल रहे!"

अपनी त्रुटि पर भिखारिन लज्जित हो गई। उसके शुष्क अधरों पर भी स्मृति की रेखा दौड़ गई। बोली: "सोने-सी बहू आयेगी बाबू, अंधी को पैसा दो।"

कुमार ने उसके कटोरे में एक इकन्नी डाल दी। उसकी इस करतूत पर सुधीर का पारा चढ़ गया: "बस, बहू का नाम लेकर तुम्हें कोई लूट ले। तुम्हारे जैसे लोग ही देश की दुरवस्था का कारण है। इतना भी नहीं समझते कि भीख माँगना देश के लिये अभिशाप है।"

कुमार का ध्यान इस ओर गया तो पूछा: "क्यों श्रीमान, क्यों भिन्ना रहे हैं?"

"खैर सुन तो पड़ा कहीं। ऐसा क्या सौंदर्य है इस भिखारिन में जो

सुध-बुध खो बैठे। इन भिखारियों को पकड़कर जेल में बन्द कर देना चाहिये। राह चलना दूभर कर दिया है।"

सुधीर को और चिढ़ाने के लिये कुमार बोला: "और जो मैं कहूँ इन लोगों के लिये विशेष आश्रम बनने चाहियें तो !...किन्तु मुझे ध्यान भिखारिन का नहीं उस नन्हे बालक का है जिसे भीख की घुट्टी जन्म से ही पिलाई जा रही है।"

"जी हाँ, संसार भर के ठेकेदार आप ही तो हैं। चलो।"

◇ ◇ ◇

उस दिन के पश्चात् उस पथ से जाना और भिखारिन के कटोरे में इकन्नी डालना कुमार का नित्य कर्म हो गया। बालक ने पहले तो उसे भी साधारण पथिक समझा और फिर पहचानने लगा। अंधी भी इकन्नी देने वाले दाता से परिचित हो गई। वास्तव में कुमार की अवस्था वह थी जिसे यौवन कहते हैं। जब जीवन में नई स्फुरणा, नव चेतना का साम्राज्य होता है। मनुष्य अपनी इच्छाओं का स्वामी स्वयं होता है। संसार की किसी भी विघ्न-बाधा की अपेक्षा वह नहीं रखता। उसका विवाह नहीं हुआ। इसलिये जीवन के उत्तरदायित्वों से पूर्णतया मुक्त है। माँ के अतिरिक्त कोई भी संसार में उसका नहीं है। शैशव में ही पिता की मृत्यु ने उसे परिस्थितियों से संघर्ष करना सिखा दिया। तब से वह स्वयं अपने पैरों पर खड़ा होकर आगे बढ़ रहा है। उसका विकास नितान्त स्वतंत्र ढंग से हुआ है। माँ ने कभी उसकी इच्छा का विरोध नहीं किया। वह गाँव में रहती है और कुमार शिक्षा समाप्त करने पर यहाँ शहर में रहने लगा। माँ की इच्छा थी कि उसका विवाह हो जाये तो वे निश्चिन्त हो जायें पर वह नहीं माना। सुधीर उसका मित्र है, सहपाठी है, अतः दोनों में खूब प्रेम-भाव है। कुमार चाहता था, वह अलग मकान लेकर रहे किन्तु सुधीर न माना। उसकी पत्नी कुमार को देवर सदृश स्नेह करती है। तब से कुमार सुधीर के साथ रहने लगा।

कुमार के आते ही बालक लाठी टेककर कहता : "बाबू आ गये।" अंधी जैसे प्रफुल्लित हो जाती। एक दिन कुमार पूछ ही तो बैठा : "तुम लोग भीख क्यों माँगते हो ?"

भिखारिन अचकचा गई। अपने व्यवसाय की निन्दा किसे अच्छी लगती है किन्तु यह तो व्यवसाय नहीं। क्या उत्तर दे ? बोली : "और क्या करें बाबू जी, पापी पेट के लिये जो न करें सो थोड़ा।"

कुमार ने सोचा तथ्य तो इस कथन में अवश्य है। फिर भी बार-बार माँगने से इनकी आत्मा मर जाती है। तो भी यह लोग करें क्या ? इनका दण्ड इन बच्चों को भुगतना पड़ेगा। जीवन भर के लिये अकर्मण्य हो जायेंगे। सुधीर ने ठीक कहा था : "जेल में बन्द कर देना चाहिये" रोटी की समस्या तो हल हो जायेगी। उहुँ, बच्चों का सुधार तो फिर भी न होगा। इनमें स्वाभिमान नहीं। बोला : "तुम लोगों में स्वाभिमान······।"

भिखमंगिन बात काटकर बोली : "जिस दिन लोक-लाज को तिलांजलि दे भीख माँगी, स्वाभिमान तो उसी दिन विदा हो गया बाबू जी ! यह मनकू चार वर्ष का था, जिस दिन इसके बापू की मृत्यु हुई। वे मजदूर थे तो क्या, दो-अढाई रुपये हम तीनों के लिये पर्याप्त होते। दिन को परिश्रम करते थे, रात को चैन की नींद सोते थे। सहसा काल का निमन्त्रण आ गया ! तो भी मैंने साहस न छोड़ा। सोचा था मेहनत-मजूरी से हम दोनों का पेट भर जायेगा। किंतु भाग्य में तो भीख माँगना था। दृष्टि निर्बल हो गई। डाक्टर को दिखाया। उसने कहा मोतिया है, आपरेशन होगा। गरीबों के पास इतना धन कहाँ बाबू जी, टाल-मटोल में दिन गँवा दिये। अब तो यही दिन-चर्या हो गई है। मनकू बड़ा हो जाये, हाथ की कमाई खाने लगें तो मेरा निस्तार हो जाये।"

अंधी के नेत्र भीग गये। मनकू जैसे मौन भाव से माँ के शब्दों का अर्थ समझने का प्रयास कर रहा था। बात टालने के लिये कुमार

ने बच्चे से कहा : "तो तुम्हारा नाम माणिक है। माणिक का अर्थ है मोती, वह श्वेत वर्ण चमकदार मोती, तुम अमूल्य माणिक हो।"

मनकू इस व्याख्या को नहीं समझ सका। केवल मुस्करा दिया। उसकी पीठ थपथपा कुमार आगे बढ़ गया। उसका मन पुलकित था। अपने हृदय का एक मधुर भाग जो वह उस भिखारी के लिये दे सका, इससे उसने चरम सन्तोष अनुभव किया।

◇ ◇ ◇

फाल्गुन मास था। गगन में मेघमाला का स्वच्छन्द साम्राज्य था। पवन में शीतलता थी। सड़क पर इक्का-दुक्का पथिक दृष्टिगोचर होता था। सब लोग घरों व दुकानों के भीतर वर्षा के स्वागत के लिये उद्यत थे। ऐसे विकट समय में भी बालक भिखारिन की लाठी थामे नियत स्थान पर खड़ा था। उसके नेत्रों में अपूर्ण आकांक्षा की एक झलक थी। कुरते के आगे वाले बटन खुले थे। उसके अधर शीत से कटकटा रहे थे। उस चीरती वायु के पथावरोध के लिये वह बार-बार बन्द मुट्ठी को वक्ष तक ले जाता। कभी माँ से कहता : "माँ घर चलो, ओह बड़ी सर्दी है।"

ढारस देते हुए माँ बोली : "तनिक ठहर मेरे लाल, भीख न मिलेगी तो रोटी कहाँ से खायेंगे ?"

बच्चा दिन भर भूखा रहा था, यह आश्वासन उसे कुछ साहस दे देता। इस लालच ने उसे धैर्य रखने को बाध्य किया। भिखारिन ने लम्बी हाँक लगाई : "कोई राम का प्यारा अंधी को रोटी खिलाये।"

किन्तु उस आर्द्र वातावरण में उसकी पुकार सुनकर ठहरने की आवश्यकता किसे थी ? कोई दुत्कार कर कहता : "वर्षा में भी इन्हें चैन नहीं।"

बादल नीचे झुक आये। नन्ही-नन्ही फुहार भी पड़ने लगी। तब

मुख पर निराशा का भाव प्रदर्शित करते हुए अंधी बोली : "चलो बेटा, आज भाग्य में रोटी नहीं।"

अभाव ने बालक को ढीठ बना दिया था। समझ गया, आज भी क्षुधा से व्याकुल, पेट से टाँगें सटाकर सो जाना होगा। पुनः कल माँ की लाठी थाम इसी स्थान पर आना होगा और वही नित्य का अभिनय। वह रुआँसा हो, लाठी उठा चल पड़ा। सहसा बालक के नेत्र चमके। अस्फुट स्वर से बोला : "माँ, बाबू।"

कुछ दूरी पर एक बाबू जा रहा था। बच्चे की दृष्टि में सब बाबू कुमार थे। उसका अपराध केवल यही था कि वह वेश की समता में हृदय की विभिन्नता को लक्ष्य न कर सका। निरीह बालक ने लपककर उसे पुकारना चाहा। हाथ बढ़ाया तो वह बाबू के कोट से छू गया। बाबू ने शीघ्रता से घूमकर देखा। कदाचित् नये सूट की सुरक्षा की चिन्ता उसे थी। एक भिखारी बालक उसके कोट को छू रहा था। छिः! गन्दे हाथ। उसकी सभ्यता और शिष्टता उमड़ आई : "हट कम्बख्त।" एक भरपूर हाथ बालक के कपोलों पर अपनी निर्ममता के चिह्न अंकित कर गया। चीत्कार करता हुआ बच्चा गिर पड़ा। गिरने के साथ ही माँ की लाठी छूटी और बच्चे का सिर सड़क से जा टकराया। भिखारिन हाय-हाय करने लगी। बाबू निकल गया। पवन का वेग तीव्र हो उठा; किन्तु दीन भिखारिन के निश्वासों का श्रोता पवन के अतिरिक्त कोई न था।

◇ ◇ ◇

दूसरे दिन अंधी की लम्बी तान पथिकों को सुनाई न पड़ी। भिखारिन का स्थान रिक्त था किन्तु उस विशाल जन-समूह में एक भिखारिन की अपेक्षा ही किसे थी! सब कार्य-चक्र अपने स्वाभाविक क्रम से चल रहा था। कुमार उसकी उपेक्षा न कर सका। उसके नेत्र जैसे कुछ खोज रहे थे। किससे पूछे कि भिखारिन कहाँ है? मन को

समझाना चाहा, चलो कल सही, तुम क्यों उसके पीछे व्याकुल हो रहे हो; तो भी मन नहीं माना। अनजाने ही एक मोह उस बालक के प्रति उसे हो गया था। एक बूढ़ा, जो वहाँ केले बेचता था, उससे कुमार ने पूछा : "क्यों बाबा ! वह अंधी और बालक कहाँ गये ?"

बूढ़ा भिन्नाया : "सब निष्ठुर हैं, कठोर ।"

"कौन निष्ठुर है बाबा ?"

"तुम बाबू लोग और क्या ? साहबी ठाठ में दया-धर्म भी भूल गये। कल बादल घिरे थे। मैं तो सामने वाले शेड में ले गया टोकरी । बच्चे का हाथ कोट से क्या छू गया कि एक थप्पड़ दे दिया। बेचारा तड़पकर गिर पड़ा। हृदय तो है ही नहीं।"

"किसने मारा बच्चे को ?" उसके हृदय में टीस-सी उठी।

"तुम्हारे ही जैसा बाबू था कोई ।"

"तुम्हें उसका घर ज्ञात है बाबा ?"

"हाँ, वहीं तो शहर के बाहर जहाँ मजदूर और ताँगे वाले रहते हैं ।"

कुमार फिर नहीं बोला। कुछ चिन्तित-सा चल पड़ा। उसे स्मरण ही न रहा कि वह कार्यालय से लौट रहा है और भूखा है। एक अज्ञात आह्वान उसे उड़ाये लिये जा रहा था। शहर के बाहर, जहाँ कोई स्वास्थ्य-सुधार-सभा उन मोहल्लों की देख-रेख नहीं करती, जहाँ नालियों का प्रबन्ध न होने के कारण घरों का पानी असंख्य पोखरों की सृष्टि कर रहा था, उस पर जन्म लेने वाले हजारों कीटाणु। जहाँ मच्छर मारने के लिये डी. डी. टी. के छिड़काव की आवश्यकता नहीं। जहाँ गन्दगी के ढेरों ने शुद्ध वायु के प्रवेश पर प्रतिबन्ध लगा रखा था। वहाँ, एक सड़ान्धयुक्त दुर्गन्ध उसे नाक पर रूमाल रखने की चेतावनी दे गई। एक घृणा से उसका मन भर उठा। पुनः सोचा, यहाँ भी तो मानव नामधारी जीवों का निवास है। निर्ममता से भावों को दबाता हुआ वह

आगे बढ़ा। घर क्या थे ? पशुओं की खोहों से भी निकृष्ट, दीवारें कच्ची मिट्टी की थीं प्रायः। कुछ घरों में लगी ईंटें उनके मालिकों के वैभव का परिचय दे रही थीं। किवाड़ के नाम पर द्वार पर टाट के परदे टँगे थे। असुरक्षा का भय उन्हें होता है, जिनके यहाँ कुछ हो; किन्तु टूटा तवा और फूटी कठौती ही जिनकी पूँजी है, उन्हें तालों की क्या आवश्यकता है। भला उन मैल-भरे गूदड़ों को उठाने को किसका मन उत्सुक होगा। एक बालक से पूछने पर भिखारिन के घर का पता चल गया। वह टाट उठाकर झाँकने लगा।

अंधी चूल्हे में फूंक मारकर रोटियाँ बना रही थी। ठीक यन्त्र की भाँति उसके हाथ तवे पर जाते थे और रोटी उठाकर चूल्हे में रख देते थे। मनकू चारपाई पर लेटा था। एक किशोर जो उनका प्रतिवेशी था, उसका मन बहला रहा था। वह दूध के लिये हठ कर रहा था। यदि पड़ोसी लोग आटा न भेजते तो रोटी भी न मिलती, उसकी बुद्धि यह सोचने में असमर्थ थी। इन लोगों में सहानुभूति का अभाव नहीं। धन नहीं, हृदय तो है। दुःख-सुख के समय यह एक दूसरे का खूब ध्यान रखते हैं। ऐश्वर्य के स्वर्णिल नाग ने इन्हें मानवता से दूर नहीं किया। किन्तु इस महँगाई के युग में, जब दूध दस आने सेर है, इसकी व्यवस्था वे लोग नहीं कर सके। प्रातः तो अंधी ने मनकू को फुसला लिया था, गरम-गरम रोटियाँ गुड़ के साथ मसलकर खिलाई थीं, किन्तु अब वह नहीं मानता। ठुनठुना रहा था। मुख पर खाई मार और मस्तक की चोट बालक को व्यथित कर रही थी।

पड़ोसी किशोर बोला : "चाची, इसकी चोट सेंक देना।"

अनुनय से अंधी ने कहा : "तुम्हीं कर दो तो ठीक है भय्या, अपने अंधेपन पर जितना अवसाद आज हुआ, उतना कभी नहीं हुआ। मनकू की चोट तक मैं देख नहीं पाती। यह सड़क पर तड़प रहा था और मैं इसे उठाने में असमर्थ थी। आज अपनी विवशता पर रोना आता है।"

समवेदनापूर्ण स्वर से पड़ोसी बोला : "हम लोग किस मर्ज़ की दवा हैं चाची। सेवा, टहल, जो बतलाओ प्रस्तुत हैं। मैंने तो जैसे सुना कि मनकू को किसीने मारा है तन-बदन में आग लग गई।"

"तुम ही लोगों का तो सहारा है! इन बाबू लोगों के हृदय नहीं होता। मैं तो किसीको भी रोते नहीं देख सकती, और वह बाबू निर्ममता से इसे गिराकर चलता बना।"

व्यंग्य से किशोर बोला : "हम गरीबों के पास रुदन के अतिरिक्त और है क्या चाची ?"

कुमार खड़ा सुन रहा था। पुकारा : "माणिक !"

अंधी ने स्वर पहचान लिया। पुलकित हो बोली : "आओ बाबू।"

आनन्द से विह्वल हो गई : "मनके ! देख तो लाल, बाबू आये हैं। इकन्नी वाले बाबू !"

मनकू ने मुख नहीं फिराया। उसी रुख से बोला : "न, बाबू मारेंगे।"

कुमार जैसे चोर की भाँति पकड़ा गया। यह स्पष्ट उसकी सभ्यता पर आरोप था। आह! निष्ठुर ने बच्चे के कोमल हृदय में सन्देह की चिन्गारी रख दी। स्नेहपूर्ण स्वर से पुकारा—"माणिक मोती !"

बालक ने करवट बदली; देखा, बाबू के मुख पर क्रोध नहीं, वात्सल्य की छाया थी। वह फिर भी नहीं बोला। हृदय में आशंका थी; बाबू पुनः मारेगा। इसी संशय में पड़ा वह कुमार की ओर देख रहा था। कुमार ने अपने स्वर में और स्नेह उँड़ेला—"मानिक, मैं बाबू हूँ, यह लो इकन्नी, नहीं यह दवन्नी लोगे ?"

माणिक के नेत्र चमके, पुनः सहम कर बोला : "माँ! देखो बाबू का कोट··· । ओह ! सिर दुखता है।"

कुमार ने वैभव-पीड़ित शैशव को देखा। वह ग्लानि से भर उठा। वह बालक का विश्वास खो चुका था। अंधी को ध्यान आया, बाबू कब

से खड़ा है। किन्तु बैठाये कहाँ ? उन भिखारियों के घर में उसके योग्य आसन कहाँ ?

"कहाँ बैठियेगा बाबू जी ? सुदामा के घर भगवान आये हैं और बैठने तक को स्थान नहीं !"

जब तक भिखारिन संकेत करे, कुमार लपककर माणिक की चारपाई पर बैठ गया। इस त्याग के लिये उसे अपने संस्कारों से कितना संघर्ष करना पड़ा। यह मलिन, सड़े-गले लिहाफ, जिन्हें मानव का आवरण कहने में भी सभ्यता की जिह्वा रुकती है। किन्तु अंधी, माणिक यह भी मनुष्य हैं। ठीक उसी जैसे, तनिक भी तो अन्तर नहीं। इनके इस वेश में हमारी लोलुपता और नगण्यता झाँक रही है। इसके दोषी हम हैं। मन को एक डाँट बताकर वह बैठ गया। पड़ोसी किशोर को दूध लाने भेजा। स्वयं मनकू का मन बहलाने लगा। वह माणिक के लिये मिठाई लायेगा, मोटर, फुदकने वाली चिड़िया। मनकू के लिये यह बातें नवीन थीं। गुड़ ही उसके लिये अमृत था और मोटर क्या ? मोटर तो सड़क पर चलती है; इस झोंपड़े में कैसे आयेगी ? चिड़िया क्या उड़ न जायेगी। उसने मन की शंका को शब्दों में व्यक्त कर दिया : "चिड़िया उड़ जायेगी। नहीं, हम उसे बाँध रखेंगे।"

बालक प्रसन्न हो गया। दूध आ जाने पर उत्साह से उठ बैठा और गटागट पी गया। कुमार उठ पड़ा, कुछ पैसे अंधी के हाथ में थमाकर बोला : "माणिक जो माँगें; सो मँगवा देना, और आज से भीख न माँगना।"

कुमार के जाने पर अंधी सोचने लगी—"बाबू देवता है।"

◇ ◇ ◇

सन्ध्या हो जाने पर जब कुमार विलम्ब से घर पहुँचा तो सुधीर ने आड़े हाथों लिया। चाय की प्यालियाँ अभी मेज़ पर बिखरी थीं। कुमार की प्रतीक्षा करते-करते जब वह थक गया तो झुँझलाकर पत्नी से चाय

लाने को कहा। कुमार ने देखा तेवर चढ़े हुए हैं। क्षमा-प्रार्थी नेत्रों से मुस्कराता हुआ बोला : "यहाँ तो पहले ही कोर्ट मार्शल का आयोजन है।"

भाभी ने पूछा : "कहाँ चले गये थे भय्या ?"

सुधीर का क्रोध उफन पड़ा : "गये होंगे उस भिखारी बच्चे के यहाँ। हम लोग जायें भाड़ में, यह अच्छी सनक सवार हुई।"

भाभी कपड़ा मुख पर रख हँसने लगी। कुमार ने आराम से टाई खोलते हुए कहा : "तुम तो कुछ समझते नहीं, बच्चे को चोट आ गई थी और मारा था मेरे-तुम्हारे जैसे एक बाबू ने।"

"तुमने डाक्टरी कब पढ़ी ?"

"हाँ, मैंने डाक्टरी नहीं पढ़ी किन्तु डाक्टर को दिखा तो सकता हूँ ! सहानुभूति के दो शब्दों से उनके विक्षिप्त हृदय पर मरहम-पट्टी तो कर सकता हूँ।"

सुधीर ने देखा कुमार आवेश में है। बात टालनी चाही : "किन्तु मैं कहता हूँ तुम किस-किसका उत्तरदायित्व लोगे ? ऐसे अनेकों भिखारी भारत की सड़कों पर बिखरे पड़े हैं।"

कुमार अधिकारपूर्ण स्वर में बोला : "यह गौरव की बात नहीं। समाज की सुव्यवस्था करना तो हम युवकों का कर्त्तव्य है सुधीर ! क्या जाने यही भिखारी बच्चे कल को देश के रत्न बन जायें, किन्तु इसके लिये नव निर्माण की आवश्यकता है।"—यह कहते-कहते कुमार का मुख एक अलौकिक आभा से दीप्त हो उठा। अटल विश्वास की एक रेखा उसे आलोकित कर गई। भाभी चाय की प्रतीक्षा कर रही थी। कुमार का आवेग शान्त हो गया। विनम्र स्वर में कहा : "अब चाय की इच्छा नहीं भाबी।"

"अंधी ने पिला दी है क्या ?"—सुधीर ने पुनः व्यंग्य किया।

"वे लोग निर्धन हैं, तो भी उनपर व्यंग्य कसने का तुम्हें अधिकार नहीं है सुधीर !" कहता हुआ कुमार अपने कक्ष में चला गया।

◇ ◇ ◇

सुधीर कार्यालय से लौटा तो देखा कुमार के कमरे में एक स्लेट तथा प्रारम्भिक वर्ण-बोध रखे हैं। विस्मय से अभी इस समस्या का विश्लेषण कर ही रहा था कि कुमार माणिक के साथ आ पहुँचा। माणिक के वस्त्र आज स्वच्छ थे। पलक मारते ही सुधीर समझ गया। मुस्काकर बोला : "मास्टर जी नमस्ते।"

कुमार ने माणिक को निकट खींचकर, पीठ थपथपाई और प्रश्न किया : "पढ़ोगे ?"

बालक ने सिर हिलाकर स्वीकृति-सूचना दे दी।

नियमित रूप से माणिक की पढ़ाई चलने लगी। कुमार पूर्ण मनोयोग से उसे पढ़ाता था। बालक भी कुशाग्र-बुद्धि था। कुमार को अपने प्रथम प्रयास में ही आशातीत सफलता मिली। बालक की प्रगति पर वह सन्तुष्ट था। कभी-कभी कुमार पूछता : "भीख माँगोगे ?"

"नहीं।"

"क्यों ?"

"गालियाँ मिलती हैं। बाबू लोग मारते हैं।"

"क्या करोगे ?"

"पढ़ूँगा।"

"कितना ?"

"बहुत।"

"फिर ?"

"बाबू बनूँगा, दफ्तर जाऊँगा।"

"फिर तुम भी किसीको मारोगे ?"

"नहीं, मारने से दूसरों को कष्ट होता है।"

और पूछने पर ज्ञात हुआ कि यह सब बातें उसे माँ से ज्ञात हुई हैं।

इसी प्रकार तीन मास व्यतीत हो गये। इस अवधि में ही माणिक दूसरी श्रेणी की पुस्तक पढ़ने लगा था। इसी बीच कुमार को आगे प्रशिक्षा के लिये बाहर जाने का शासकीय आदेश आ गया। उसे माणिक की चिन्ता हुई। वह अपने को उसकी भविष्य-डोर का सूत्रधार समझे था। निस्संदेह इसमें उसकी अहं भावना प्रधान न होकर उत्तरदायित्व की भावना प्रधान थी, तो भी नव निर्माण की जो योजना उसने मस्तिष्क में निर्मित की थी वह अधूरी ही रह गई। माणिक से उसने कहा : "मैं जा रहा हूँ मोती !" बालक का अबोध मन जैसे किसीने गरम सलाई से दाग दिया। ममता नाम की अमूल्य वस्तु यदि उसे मिली है तो केवल दो व्यक्तियों से, वे थे माँ और कुमार। नयनों में अश्रु-भरे वह निष्पलक देखता ही रह गया।

"क्या है रे ?" स्नेह से कुमार ने पूछा।

"आप चले जायेंगे बाबू जी, तो मैं क्या करूँगा ?" कितनी स्वाभाविक व्यथा थी बालक के स्वर में।

"माणिक ! तुम पाठशाला में पढ़ना, अच्छे बालक बनना, सब तुम्हें स्नेह करेंगे। किन्तु मैं सदा के लिये थोड़े ही जा रहा हूँ। एक वर्ष पश्चात् यहीं लौट आऊँगा।"

इस सान्त्वना से बालक चहक उठा : "मैं भी अब काम करने लगा हूँ बाबू जी।"

"क्या ?" आश्चर्यान्वित होकर कुमार ने पूछा।

"हाँ बाबू जी, माँ कहती हैं, अच्छे लड़के निठल्ले नहीं घूमते। वह हमारा पड़ोसी है न गोपाल, वह लकड़ी की पेटी लिये बूट-पालिश करता घूमता है। वह मुझे अपने संग ले गया। मैंने अठन्नी का काम किया, उसने मुझे आधा भाग दिया। मेरा अपना सामान जो नहीं है इसीसे बाबू जी।"

"काम करना अच्छा है; किन्तु पढ़ना न छोड़ना। मैं तुम्हें पाठशाला में प्रवेश करवा जाऊँगा।"

विदा के दिन माणिक फूट-फूटकर रोया। बच्चे की स्नेह-विह्वलता देख कुमार भी द्रवित हो गया। प्यार से आलिंगन किया : "मैं लौटूंगा तो तुम खूब समझदार हो जाओगे मोती।"

अंधी ने आशीष दी : "ऊंचा पद पाओ बाबू। भगवान तुम्हें कुशलता से रखे।"

कुमार ने देवता के वरदान सदृश इन शब्दों को ग्रहण किया। सुधीर व उसकी पत्नी तो अत्यन्त उदास थे।

◇ ◇ ◇

एक वर्ष पश्चात् कुमार लौट आया। अभी-अभी प्रातः स्नान करके बैठा है। सुधीर स्नान करने गया है। सहसा एक स्वस्थ सुन्दर बालक ने पुकारा—"बाबूजी !"

कुमार ने देखा तो देखता ही रह गया। फिर उल्लसित हो बोला—"अरे तुम हो ! इतना परिवर्तन !"

पाँव-स्पर्श करता हुआ बालक बोला : "हाँ बाबू जी ! आपका मोती।"

"तेरी पढ़ाई कैसी है ? माँ तो ठीक है न ? अब भी तू काम करता है ?"

एक साथ तीन प्रश्न कुमार ने पूछ लिये। बालक घबरा गया—किस प्रश्न का उत्तर पहले देना चाहिये। उसकी बाल्य बुद्धि चकरा गई। तो भी सहास मुख बोला : "सब आपकी दया है बाबू जी ! माँ बिल्कुल ठीक है। पढ़ाई भी ठीक है। इस बार श्रेणी में प्रथम रहा हूँ। अध्यापक छात्रवृत्ति दिलाने को कह रहे थे। अवकाश के समय काम भी करता हूँ। पहले लड़के 'चमार' कहकर छेड़ा करते थे। तब तो मन में आता था, काम छोड़ दूँ। माँ ने समझाया—चोरी-डाका नहीं है, श्रम की कमाई

है। अपना लाभ है तो लोगों की बातों का क्या? रुपया-बारह आने बना लेता हूँ। हम माँ-पुत्र का निर्वाह सुविधा से हो जाता है। अब भीख माँगने की आवश्यकता नहीं पड़ती।"

पुनः कृतज्ञता से गद्गद हो बोला : "माँ तो अहर्निश आपको आशीर्वाद दिया करती है।"

भावावेश में कुमार ने उसे आलिंगन में ले लिया। सुधीर ने उस मिलन को देखा। कितना अन्तर था इस स्वाभिमानी बालक और दो वर्ष पूर्व के भिखारी बालक में।

परित्यक्ता

नलिनी डाक्टर है। उसे क्षण भर को भी विश्राम नहीं। अस्पताल में अनथक श्रम करना ही जैसे उसका जीवन है। रोगियों की परिचर्या ही उसके प्राण हैं। यन्त्रचालित-सी वह कार्य के चक्र में निरन्तर जुटी रहती है। प्रात:काल नौ बजे वह चाय पीकर निकल पड़ती है। फिर अस्पताल में सब कुछ भूल जाती है। रोगियों का जमघट उसे उलझाये रखता है। मध्याह्न के भोजन को कभी-कभी दो-तीन तक बज जाते हैं। घर से नौकरानी दो-चार बार बुलाने आती है। तब कहीं नलिनी को खाने का ध्यान आता है। फिर शाम को अस्पताल, तब वह रात के आठ-नौ बजे तक घर नहीं जा पाती। लोग उसकी आश्चर्य-चकित करने वाली कार्य-शक्ति देख चकित रह जाते हैं। ऊपर से वह प्रसन्नता और आह्लाद की प्रतिमूर्ति-सी दीख पड़ती। पर स्मृतियों के गहन आवरण में कौन-सी अज्ञात वेदना उसके हृदय को व्यथित कर देती है, यह कोई नहीं जानता।

रात्रि के आठ बजे हैं। पर शीत के कारण समस्त प्रकृति सिकुड़कर कहीं छिपने का व्यर्थ प्रयास कर रही है। नलिनी अभी-अभी एक केस करके लौटी है। विक्षिप्तावस्था में कोट को पलंग पर फेंक वह अन्यमनस्क-

सी कुर्सी पर बैठ शू के तस्मे खोलने लगी। तस्मे खोलते-खोलते उसने पाँच मिनट लगा दिये। न जाने कैसी विशृंखलता थी उसके भावों में। उसका एकमात्र पुत्र राजीव, कापी पर ड्राइंग के नाम से उल्टी सीधी रेखाएँ खींचना छोड़कर उठ आया। माँ ने वात्सल्यपूर्ण नेत्रों से पुत्र को देखा। कार्यरत वह उसकी देखभाल भी अच्छी प्रकार नहीं कर सकती। उसका जीवन दास-दासियों के प्रेम पर आश्रित है। यह सोच उसका मातृ हृदय विह्वल हो उठा। प्रेमपूर्ण स्वर से पूछा : "स्कूल में आज-कल क्या पढ़ते हो राजीव ?"

पर राजीव ने उपरोक्त प्रश्न पर ध्यान न देकर पूछा : "एक बात पूछूँ माँ ?"

"पूछ मेरे लाल, मेरे पास छिपाने को कुछ नहीं।"

नलिनी नहीं जानती थी कि बच्चे के मन में क्या है ?

"मेरे पिता जी कहाँ हैं ? सबके पिता जी सुन्दर-सुन्दर वस्तुएँ लाते हैं मेरे पिता जी कभी नहीं लाये। मेरी श्रेणी का विजय कहता था तेरे पिता का क्या ठिकाना।"

नलिनी चौंक पड़ी। शुष्क नेत्रों से उसने दीवार पर टँगे एक सुन्दर चित्र को देखा। हृदय की कसक को दबाते हुए बोली : "वे विदेश गये हैं, लौटकर तेरे लिये सुन्दर वस्तुएँ लायेंगे।" फिर बात पलट दी उसने : "तुमने खाना खा लिया ?"

"नहीं तो हम और आप इकट्ठे खायेंगे।"

"मुझे अभी भूख नहीं बेटा। मैं बहुत थकी हूँ। तू खा ले, जा मेरे लाल बहुत देर हो गई।"

फिर अनुचर को आवाज लगा, राजीव को खाना खाने भेज दिया। छिन्न-भिन्न लतिका-सी वह आँखें मूँदे कुर्सी के सहारे टिक गई। बार-बार उसने उस मूक चित्र को देखा। पर निष्ठुर चित्र तो चित्र था; किंतु चित्रांकित पुरुष भी अब निष्ठुर हो गया था। उसके भाव उमड़ पड़े।

पलकें गीली हो गईं । बैठी-बैठी न जाने किस लोक में जा पहुँची। अतीत के सुन्दर चित्र उसके स्मृति पट पर आ-आकर उसे व्यथित करने लगे ।

◇ ◇ ◇

कालेज के वह सुन्दर दिन, वह स्वर्गिल संसार, जहाँ सुख का साम्राज्य था । उल्लास ही उल्लास था, चिन्ता नहीं, व्यथा नहीं । यौवन से अठखेलियाँ करतीं वे सखियाँ राग-रंजित उषा-सी वे सुन्दर घड़ियाँ, क्या भुलाई जा सकती हैं ! उसकी सहपाठिनें अपनी प्रेम और रोमांस से भरपूर नई-नई कहानियाँ सुनाती थीं पर वह तब भी उस अधिकार से वंचित थी । उसकी सगाई को सात वर्ष हो चुके थे । जब कि वह नवीं श्रेणी में पढ़ती थी और प्रेम-चक्र के नियमों से अनभिज्ञ थी ।

फिर वह डाक्टर हो गई । सुसराल वाले विवाह की माँग कर रहे थे । विवाह की तिथि झटपट नियत हो गई । वह चकरा गई । कालेज के बाद इतनी जल्दी बन्धन में पड़ना उसे अच्छा नहीं लगा । पिता के पास गई । उन्होंने देखा संकुचित-सी नलिनी पीछे खड़ी है । स्नेहासिक्त स्वर से पूछा : "क्या है बेटी ?"

"पिता जी"—और आगे नलिनी सकुचा गई ।

"कैसे आई हो नलिनी ?"

"पिता जी, विवाह की मेरी इच्छा नहीं है ।"

"और मैं वचन जो दे चुका हूँ । वे लड़के वाले हैं, उनकी आज्ञा माननी ही पड़ेगी ।"

और नलिनी निरुत्तर हो गई । माता-पिता की इच्छा ही नारी की इच्छा है । एक मास के भीतर ही उसका विवाह हो गया । उसका पति सतीश, शिक्षित, स्वस्थ और सुन्दर नवयुवक था । नलिनी ने सोचा कि पिता का चुनाव अनुचित नहीं है । दोनों ने एक दूसरे को पाकर सौभाग्यशाली समझा । पर दुबली नलिनी, बुढ़िया सास की आँखों में खटकने

लगी। बुढ़िया सास महा कृपण थी। सारी कोठी किराए पर चढ़ा, माँ-बेटा दो कमरों में निर्वाह करते थे। पर नलिनी के आ जाने से बड़ी कठिनाई होने लगी। कम से कम एक ड्राइंग रूम होना चाहिये जहाँ आगन्तुकों को मिल सके, एक कमरा डिस्पैन्सरी के लिये। पर वहाँ तो ले-देकर एक ही कमरा था। सतीश से बोली : "अपनी कोठी होने पर यदि हम इस तंगी से रहे तो क्या लाभ ? आप माता जी से कहिये एक हिस्सा खाली करवा दें।"

"मैं तुम्हारी बात पर विश्वास करता हूँ पर नलिनी, माता जी से कहने का मेरा साहस नहीं। न हो तो स्वयं कहकर देख लो।"

कुछ दिन यह बात यों ही दबी रही। पर जब एक दिन नलिनी की बहिन भी आ गई, सतीश का मित्र भी आ गया, और माता जी से कोई मिलने वाली भी आ गई और सब एक ही कमरे में, तो नलिनी की खीझ कुछ बढ़ गई। उसने निश्चय किया कि वह अवश्य सास से कहेगी।

दूसरे दिन सतीश दफ्तर जाने लगा तो नलिनी बोली : "तो पूछ लूँ माता जी से ?"

"मेरी ओर से खुली छुट्टी है।"

"माता जी बिगड़ेंगी तो नहीं ?"

"यह मैं कह नहीं सकता।"

और उसी दिन नलिनी सास से पूछ बैठी। पर सास के तेवर देखकर वह सहम गई : "यह कैसे हो सकता है बहू। तुम्हारे ससुर की मृत्यु के पश्चात् यही मेरी आय का एकमात्र साधन है। इसीसे मैंने सतीश को पाला है, पढ़ाया है, तुम्हारी आँख इस किराए का मूल्य नहीं आँक सकती···" बुढ़िया और भी कुछ कहने जा रही थी कि नलिनी बोल उठी : "मेरा यह आशय नहीं था माता जी, पर कोई मिलने-जुलने आ जाता है तो मुश्किल पड़ती है। न हो तो एक तरफ का किराया मुझसे ले लिया करें।"

"वाह री सूझ ! मायके के पैसे की गर्मी होगी । बहुत देखी हैं तेरे जैसी मैंने !"

नलिनी हक्की-बक्की रह गई । फिर सास के सामने मुँह खोलने की हिम्मत नहीं पड़ी । सन्ध्या को सतीश लौटा तो नलिनी मुँह फुलाये बैठी रही । वह समझ गया कि दाल में कुछ काला है । धीरे से पुकारा—"नलिनी !"

नलिनी ने चौंककर देखा । सतीश प्रेमपूर्ण नयनों से उसे निहार रहा था । प्रेम का प्रोत्साहन पाकर नलिनी के भाव उमड़ पड़े । वह फूटकर रो पड़ी । सतीश कुछ क्षण स्तब्ध रहा । पत्नी का पक्ष ले या माँ का, कुछ समझ न सका । फिर बोला : "इतनी छोटी-छोटी बातों पर मन छोटा करते हैं पगली ! चलो कहीं घूम आयें । बड़ी अच्छी पिक्चर है ।"

"नहीं, मैं न जाऊँगी । फिर कटु वचन सुनने पड़ेंगे ।"

"देखो नलिनी, माता जी का कुछ तीक्ष्ण स्वभाव अवश्य है । पर उनके हृदय में हमारे प्रति अखण्ड प्रेम है । किन कष्टों से उन्होंने मुझे पाला-पोसा है और शिक्षा दी है, वह मैं भूल नहीं सकता ।"

पति के कथन पर नलिनी निरुत्तर हो गई । पर सास-बहू में वैमनस्य का जो बीज एक दिन उदय हुआ वह निरन्तर बढ़ता ही गया । सतीश आश्चर्य-चकित था । वह तो दो चक्की के पाटों में निस्सहाय था । कभी माँ का पलड़ा भारी हो जाता, कभी पत्नी का । दुर्भाग्य से वह कुछ निर्बल हृदय था । नलिनी ने उन्हीं दिनों सेवा-समिति के अस्पताल में काम खोज लिया । सतीश दफ्तर चला जाता और नलिनी अस्पताल । साथ ही नलिनी की प्राइवेट प्रेक्टिस भी अच्छी चलने लगी । रोगिणी स्त्रियाँ घर पर ही आने लगीं । विवश हो नलिनी ने एक अलग घर की व्यवस्था की । सतीश और वह नये घर में आ गये । माता जी रो-रोकर भाग्य को दोष देने लगी, मोहल्ले की स्त्रियाँ जमाने को कोसने लगीं, जब कि लड़के बहुओं के इंगित पर चलते हैं । माता जी ने भी कुछ

विज्ञापन किया : "यदि जानती तो बेटे का ब्याह किसी कम पढ़ी से करती। मर्दों के साथ काम करती है, क्या घर चलायेगी खाक ? पर ऐसी ही लौंडियाँ मर्दों का दिल मोह लेती हैं। मेरा भोला सतीश मुझसे विमुख कर दिया। माँ जाये भाड़ में, मियाँ-बीवी राजी तो क्या करेगा काजी।" ऐसी बातें निरन्तर नलिनी के कानों में पहुँचती रहतीं। सतीश भी यह सब सुनता, पर क्या करे, इधर कुआँ उधर खाई। कभी हँसकर नलिनी से कहता : "यह तुमने अच्छा हंगामा खड़ा कर लिया, मोहल्ले में निकलना कठिन है। लोगों की कटूक्तियाँ नहीं सही जातीं।"

नलिनी परेशान हो गई। बच्चा-बच्चा उंगली उठाने लगा। विवश होकर नलिनी को फिर सास के घर का आश्रय लेना पड़ा। अस्पताल जाना भी बन्द कर दिया। पर कहाँ तक ? एक दिन सतीश और नलिनी चित्रपट देखने चले, सास जल-भुनकर राख हो गई : "क्या सिनेमा जाना आवश्यक है सतीश ?"

"आज रविवार है माता जी, सप्ताह में एक ही तो छुट्टी होती है, तनिक मनोरंजन के......"अभी सतीश का वाक्य समाप्त भी नहीं हुआ था कि माता जी बोल उठी : "रसोई का किवाड़ टूटा है, किराए-दार लिपाई के लिये जोर दे रहे हैं। तुम्हारी मासी की लड़की बीमार है। वहाँ जाना अधिक आवश्यक है। रास्ते में मिस्त्री से मिल जाओ और मजदूरों को पक्का कर जाओ।" सतीश निरुत्तर हो उठा। नलिनी ने झाँका कि सतीश मुँह लटकाये जा रहा है।

इसी प्रकार दिन व्यतीत होने लगे। पर आश्चर्य की बात तो यह थी कि अब सतीश भी उससे विमुख होता जा रहा था। माता जी किसी न किसी बहाने उसे फँसाये रखती। वह उसके पास बहुत कम आ पाता। इसी बीच में एक महत्त्वपूर्ण घटना हुई। उनके घर एक नवीन शिशु ने जन्म लिया। नलिनी ने सोचा सम्भव है, पोते को देख दादी में कुछ परिवर्तन हो जाये। पर नहीं, नलिनी सारा का सारा दिन ऊपर

के बरामदे में अकेली बैठी रहती पर सास झाँकती भी नहीं। सतीश सारा दिन दफ्तर रहता। इस एकाकी जीवन से वह ऊब गई। उसकी आशाओं का स्वर्णिल संसार धीरे-धीरे समाप्त होने लगा। आज उसे पिता के वचनों पर क्रोध हो आया। क्या इसी नरक-कुण्ड में जलान के लिये इतना पढ़ाया था। पर नहीं भाग्य का विधान अटल है। एक दिन उसकी बड़ी बहिन आ गई जो स्थानीय कालेज में प्रोफेसर थी। नलिनी को इतनी दुर्बल देखकर चकित रह गई: "यह क्या नलिनी? कैसी हालत बना रखी है? इतनी दुर्बल तो तू कभी नहीं हुई?"

सहानुभूति के शब्दों ने नलिनी के हृदय में तूफान खड़ा किया। उसने बरबस मुस्कराने का प्रयत्न किया पर नेत्रों से दो आँसू ढलक पड़े।

"तू रो रही है नलिनी। देखती हूँ, पिता जी ने तेरे साथ बड़ा अन्याय किया है। मैं आज जीजा जी से पूछूँगी।"

"न बहिन, परमात्मा के वास्ते ऐसा मत करना! जब भाग्य में यही लिखा था तो किसीका क्या दोष?"

"शिक्षित होकर भी भाग्य के सहारे जी रही है। तुझे मैं क्या कहूँ नलिनी।" फिर बात पलटकर कहा, "पिता जी के पास हो आ थोड़े दिन।"

"उन्हें अपने आप कैसे लिख दूँ। वर्ना मैं तो परिवर्तन चाहती हूँ। इस एकाकी नीरस जीवन से तंग आ चुकी हूँ। सब मेरी अवहेलना करते हैं।"

"सतीश जीजा जी भी?"

"हाँ आज-कल वे भी।"

"तो मैं आज ही पिता जी को लिखूंगी"—तभी नन्हा झूले में पड़ा चीख-चीख कर रो उठा। मौसी ने देखा नन्हा भी बहुत दुर्बल है। वह उसका चुम्बन लेकर चली गई।

तीसरे दिन नलिनी के पिता जी उसे लिवाने आ पहुँचे। पति की आज्ञा लेकर और सास के चरण छूकर नलिनी मायके आ गई। पर

सास ने एक बार भी तो लौट आने का आग्रह नहीं किया। कुछ दिन तो वहाँ प्रसन्नता से कटे। पर जब सतीश का कोई पत्र उसे नहीं आया तो वह चिन्तित हो उठी। एक-एक करके उसने सात-आठ पत्र डाले पर उत्तर नदारद। वह भारतीय नारी थी। पति ही उसका सर्वस्व था। वह दिन-प्रतिदिन घुलने लगी। तब उसकी माँ ने पिता से कहा। उन्होंने सतीश को पत्र लिखा तो उत्तर आया कि नलिनी के लिये हमारे घर में जगह नहीं। वह बड़े घर की बेटी है। हमारे यहाँ उसकी समाई नहीं। भाव स्पष्ट था। उस दिन वह मूर्ति नलिनी के नेत्रों के सम्मुख आई—'पिता जी मेरी विवाह की इच्छा नहीं।'—पर अब क्या हो सकता था।

तब से लेकर वह सिविल अस्पताल में काम कर रही है। निर्द्वन्द्व भाव से। सेवा का आश्रय लेकर वह अतीत यौवन की समस्त भावनाओं को भुला देना चाहती है। राजीव ही उसका जीवन-धन है। दो वर्ष पश्चात् उसने यह भी सुना कि सतीश ने अपनी एक सहपाठिनी से पुनर्विवाह कर लिया। अपनी अमूल्य सम्पत्ति की चोरी से जैसा दुख होता है, वैसा ही नलिनी को भी हुआ। आशा की रही-सही ज्योति भी बुझ गई। आज भी सतीश का चित्र उसके सामने है। कभी-कभी उद्वेग उठता है, तो रो लेती है। रात्रि के एकान्त निस्तब्ध वातावरण में उसका हृदय नीरसता के आवरण में चीत्कार कर उठता है। तब मन में आता है कि उस चित्र को चूर-चूर कर दे। पर नहीं, यही तो उन व्यथित वेदनाओं का आधार है। यही तो उसके यौवन के वसन्त की स्मृति है, तो वह रुक जाती है।

◇ ◇ ◇

उसने चित्र को देखा, सतीश का सुन्दर स्वस्थ चेहरा उसी मधुर मुस्कान से विकसित था। पर यह तो जड़ चित्र है। एक व्याकुल आह उसके अन्तस्तल से निकल वातावरण को क्षुब्ध बना गई। नौकर के बुलाने से वह चौंक उठी : "बीबी जी खाना खा लीजिये। दस बज गये"

—उसने देखा सामने पड़ी टाइम पीस सवा दस बजा रही है। स्वस्थ होती हुई बोली : "राजीव ने खा लिया ?"

"वह तो सो भी गये।"

"अच्छा; खाना ले आओ। और दोपहर की डाक···"

नौकर शीघ्रता से डाक ले आया। नलिनी ने देखा एक पत्र उसकी बड़ी बहिन सरिता का है। लिखा था—"तुम्हारी सास को करनी का फल मिल गया है। सतीश की बहिन को उसके पति ने त्याग दिया है। वह भी मातृ अधिकार से वंचित करके। उसके पाँचों बच्चे उसने छीन लिये हैं। तुम्हारा राजीव युग-युग जीये। सुना है सतीश की नई बहू बुढ़िया को पास नहीं फटकने देती। अब वह रो-रोकर तुम्हें स्मरण करती है।"

नलिनी ने बार-बार पत्र को पढ़ा, पर प्रसन्न नहीं हो सकी। क्योंकि वह स्वयं एक परित्यक्ता नारी है।

उतार-चढ़ाव

सब बच्चों को हर्षाता हूँ,
मैं रोज गुब्बारे लाता हूँ
रंग सुरंग नीले पीले,
जिसका जो जी चाहे ले ले

गली में बच्चों की भीड़ लग गई थी। उनके मध्य में बेचने वाले को देखना दुष्कर था। केवल हरे, लाल, नीले, पीले गुब्बारे धागों से बन्धे हवा में लहरा रहे थे। 'मुझे पहले, मुझे पहले' के कोलाहल से वातावरण गूँज रहा था। "सबको दूँगा भय्या, तनिक चैन से, उधम मचाओगे तो फट जायेंगे।" बेचने वाले ने शांत भाव से धागे तोड़ते हुए कहा। अपने घर की छत पर नन्हा रमण भी माँ के पीछे पड़ गया : "माँ हम भी लेंगे।" पुत्र का आग्रह देख प्रभा ने कहा : "उसे यहीं ले आ बेटा।" गुब्बारे वाले को देख प्रभा स्तब्ध-सी रह गई। वह किशोर था। लगभग दस-ग्यारह का होगा। गोरा उज्ज्वल वर्ण, विशाल भाल, बड़े-बड़े नेत्र, किसी अच्छे घर का जान पड़ता था, किन्तु इस शिशिर में भी वह नंगे पाँव केवल कमीज और निक्कर पहने था। मिट्टी में निरन्तर चलने से पाँवों के ऊपर का हिस्सा खुरदरा हो गया था। नारी-

हृदय द्रवित हो उठा, किसी माँ का लाल इसी निरीह अवस्था में संसार के निष्ठुर थपेड़े खाने को विवश किया गया था। सहसा रमण के हठ ने उसे स्थूल सृष्टि में ला खड़ा किया।

"माँ ले दो न, एक हरा, एक लाल।"

प्रभा ने पूछा : "कितने में हैं यह गुब्बारे ?"

"जी, सब दो-दो पैसे।"

बच्चा सभ्य था। बोलने का ढंग सुसंस्कृत था।

"तुम्हारा नाम क्या है बेटा ?"

"जी, माँ मुझे नरेन कहती है।"

"और पिता जी ?"

"पिता जी नहीं हैं" —नरेन उसी भाव में बोला।

प्रभा के हृदय में जैसे टीस उठी। फिर पूछा : "तुम्हारी माँ तुम्हें गुब्बारे बेचने क्यों भेजती है ? क्या तुम्हें पढ़ना नहीं चाहिये?" सतर्कता से नरेन ने उत्तर दिया : "जी मैं पढ़ता हूँ, पाँचवी कक्षा में।"

प्रभा ने रमण को दो गुब्बारे ले दिये। वह खेलने लगा। प्रभा नहीं समझ सकी कि एकाएक क्यों उसका हृदय इस अजान बालक के प्रति उमड़ आया था। शायद वह माँ थी। वह मन ही मन नरेन की तुलना रमण से करने लगी। इस शीत काल में उसने रमण के लिये तीन स्वेटर और दो पेन्ट बनाई थीं और नरेन केवल एक कुर्त्ता पहने निधड़क घूम रहा था। उसके पाँव के लिये जुराबों की आवश्यकता नहीं, उसके सिर को टोपी नहीं चाहिये, उसे शीत नहीं लगता। इसी विचार-विमर्श में नरेन जाने कब चला गया। उसने देखा, सूर्य ढल गया है। शाम के साथ ही साथ शीतल पवन भीतर जाने का सन्देश दे रही थी। रमण को तनिक खाँसी हुई तो प्रभा को चिन्ता हो आई। कहीं बीमार न पड़ जाये। नौकर को आज्ञा हुई कि अंगीठी से कमरा गरम कर दिया जाये। ऐसा स्वभाव ही हो गया था। वह एक डाक्टर की

पत्नी थी। पति की आय अच्छी थी फिर वह जीवन को आनन्द का क्रीड़ास्थल समझते थे। खाने, पीने और मौज उड़ाने को अपना ध्येय मान बैठे थे। उन्हें विश्वास था कि वह जब चाहे, खूब धन एकत्र कर सकते हैं, केवल लगन होनी चाहिये। प्रभा अपने सौभाग्य पर इठलाती थी।

दूसरे दिन रमरा फिर नरेन को पकड़ लाया। प्रभा ने उसे फिर दो गुब्बारे ले दिये। वह खेलने लगा। प्रभा ने अनुभव किया, नरेन बड़ा प्रफुल्ल चित्त लड़का है। इस अवस्था में ही मानो वह संघर्षों से टक्कर लेकर मुस्करा रहा था। वह चलने लगा, कहा: "अभी मत जाना!" वह शीघ्रता से भीतर गई। एक संतरा और केला लेकर आई—"लो नरेन।"

"जी नहीं, मुझे क्षमा कीजिये।"

पराजित-सी उसने पूछा: "क्यों?"

"किसीसे माँगकर खाना हमारे वंश-गौरव के विरुद्ध है।" बालक के स्वाभिमान ने उसे मुग्ध कर लिया: "तुमने माँगा तो नहीं, मैं दे रही हूँ। जैसे रमरा को देती हूँ"—किन्तु किसी प्रकार नरेन माना नहीं। क्षोभ से प्रभा बोली: "तुम्हारी माँ बड़ी निष्ठुर है।"

"नहीं वे बड़ी अच्छी हैं।" श्रद्धापूर्ण भाव से नरेन ने कहा। छेड़ने के लिये प्रभा ने कहा: "खाक अच्छी है। इस खेलने की आयु में गुब्बारे बेचने भेज देती है।"

नरेन अस्थिर नहीं हुआ, बोला: "गुब्बारे बेचना भी तो खेल है। इन बच्चों के साथ मैं खेलता हूँ, हँसता हूँ, गाता हूँ और माँ कहती है..."

"क्या कहती है?" आग्रह से प्रभा ने पूछा।

"पिता जी सिर पर नहीं हैं, जीवन का भार तो ढोना ही है, किन्तु भार समझ कर नहीं, हँस-खेलकर।"

"तुम्हारी माँ बड़ी समझदार हैं।"

माँ की प्रशंसा सुनकर नरेन खिल उठा और सिर हिलाकर समर्थन किया। प्रभा ने प्यार से आलिंगन में लेकर कहा : "तुम भी बड़े समझदार हो नरेन राजा, अपनी माँ को मेरा निमन्त्रण कहना।"

"किन्तु माँ तो किसीके घर नहीं आती..."

"आ जायेगी, कहना उसकी बहन ने उन्हें बुलाया है।" न जाने कौन-सा अज्ञात आकर्षण प्रभा के हृदय में उस अज्ञात नारी के प्रति था। नरेन चला गया। दूर से उसकी ध्वनि सुनाई दे रही थी—

यह वायु में लहरावे,
बच्चों का मन ललचावे

◇ ◇ ◇

नरेन की माँ का नाम सुधा था। वह लगभग ३० वर्ष की सुन्दर युवती थी। विधाता ने विवाह के चार वर्ष पश्चात् ही वैधव्य का अभिशाप उसके आँचल में डाल दिया था। चाहे परिवार मध्यवित्त था तो भी पति का प्रणय उसे खूब मिला था। उस भरपूर परिवार में सौंदर्य-प्रतिमा सुधा का आदर-मान भी इतना हुआ कि वह इतरा उठी, किन्तु आज विशाल विश्व में उसका नरेन के अतिरिक्त और कोई सहारा न था। पति के नेत्र मूँदते ही सब जैसे पराये हो गये। उसने चाहा था कि जेठ-देवरों की छत्रछाया में रहकर वह नरेन का पालन करती हुई, जीवन के अभिशप्त दिवस व्यातीत कर लेगी; किंतु ऐसा सम्भव नहीं हो सका। बात-बात में देवरानियों, जेठानियों के व्यंग्य-बाण, छोटी-छोटी बातों को लेकर नरेन की अवहेलना। वह दिन उसे विस्मृत नहीं, जब नये कपड़े पहनने के लिये नरेन का हठ देखकर उसके छोटे देवर ने विद्रूप से कहा था : "यह मुँह और मसूर की दाल। बेटा, नये कपड़े पहनने होते तो पिता को क्यों खाते; इतना ही गनीमत समझो कि इन फटे-पुराने कपड़ों पर रह रहे हो। नहीं तो हर दर की भीख माँगते"—यह शब्द उसके हृदय में शूल की न्याईं चुभ गये थे। तब सुधा ने निश्चय कर लिया कि वह वहाँ

नहीं रहेगी। वह कुछ पढ़ी थी। उसका सजग नारीत्व यह न सह सका कि वह दूसरों की जूतियाँ चाटती रहे। तब बड़े जेठ को कहकर उसने शहर का मकान अपने लिये माँग लिया था।

तब से लगभग आठ वर्ष हो गये, वह वहीं रहती थी। नरेन उसके नेत्रों की पुतली था। स्वाभिमानिनी ने बेटे को स्वाभिमान की घुट्टी बड़े प्रयत्न से पिलाई थी। सुधा रिक्त समय में इर्द-गिर्द के निर्धन बच्चों को कम फीस पर पढ़ाती थी। कभी-कभी पास-पड़ोस की लड़कियाँ उससे कढ़ाई-बुनाई सीखने आती। इधर-उधर से कुछ सिलाई का काम भी आ जाता। मोहल्ले भर में वह देवी के नाम से प्रसिद्ध थी। वह मानो समाज की निर्मूल्य सेविका थी। अपने और नरेन के लिये जुटा लेती। नरेन पढ़ने में कुशाग्र-बुद्धि था। माँ प्रातः-सायं पुत्र की आयु-वृद्धि के लिये प्रार्थना करती। वहाँ अभाव में भी भाव की सुन्दर झाँकी थी। नरेन ने माँ से कहा : "माँ, तुम्हें रमण की माँ बुलाती थीं।"

"वे कौन हैं रे ?"

"माँ वह सड़क पर बड़ा-सा मकान है न उनका। सदा दो गुब्बारे खरीदती हैं। बड़ी अच्छी हैं।"

"हमारा उनका मेल कैसा बेटा, वे धनी हैं, हम दरिद्र।"

"माँ, मैंने उससे कह दिया था कि तुम किसीके यहाँ आती-जाती नहीं।"

"तब ?"

"तब वह बोली, कहना उनकी बहिन बुलाती है।"

सुधा गदगद हो गई। चिरकाल से ऐसा स्नेहमय निमन्त्रण उसे नहीं मिला था, जिसमें आत्मीयता हो, सौहार्द हो : "मैं चलूँगी कल, अच्छा कितने पैसे हुए आज।"

आह्लाद से थिरककर नरेन बोला : "छः आने माँ।" और उसने छः आने माँ के हाथ पर रख दिये। पुनः मचलता हुआ बोला : "भूख

लगी है, खाने को क्या मिलेगा।"

सुधा ने चुपचाप उठकर थाली परस दी। सूखी रोटियों के साथ माँ ने दो पैसे के खट्टे चने लेकर रखे थे। वह सबके सब नरेन की थाली में रख दिये गये। नरेन ने देखा, रोटियाँ और नहीं हैं। पूछा : "तुम क्या खाओगी माँ, आज सब्जी क्यों नहीं बनी ?"

"मुझे भूख नहीं नरेन। सब्जी के लिये पैसे न थे। पड़ोस की जानकी की छोटी बच्ची गिर पड़ी थी। सिर फूट गया बेचारी का। दवा-दारू के लिये पैसे दे दिये बेटा।"

नरेन कौर निगलता हुआ सुधा की बातें सुनता रहा। उसके नेत्रों के सम्मुख प्रभा का संतरा और केला घूम गया। उसके हृदय में सतृष्ण भाव उदय हुआ। ठीक ही तो माँ ने कहा, वे धनी हैं हम दरिद्र। सहसा मुँह का कौर छोड़ वह बोला : "माँ, धन हमारे पास क्यों नहीं आता।"

माँ ने अनुभव किया जैसे नरेन ने आज धन का अभाव जाना हो। "आयेगा मेरे बच्चे।" धन का अभाव वह अपने वात्सल्य से पूर्ण करना चाहती थी। तब तक नरेन भोजन कर चुका था। माँ के गले से लिपट-कर बोला : "कब ?" इसका उत्तर वह क्या दे, बच्चे की महत्त्वाकांक्षा बढ़ती जा रही थी। क्या कहके उसे समझाये, क्या समस्त दोष भाग्य के सिर पर डाल दे ? नहीं, सो तो कायरों की बात है। आज कितने वर्षों से वह अजस्र सुदृढ़ता से भाग्य से होड़ ले रही है। तो भी नरेन के प्रश्न का उत्तर देने की सामर्थ्य आज उसमें नहीं थी। तब तक नरेन पुनः पूछ उठा : "कब आयेगा माँ।" सुधा ने और भी कसकर उसे हृदय से लगा लिया : "मेरे लाल, जब तू पढ़-लिखकर बड़ा हो जायेगा। लक्ष्मी तेरे संकेत पर नृत्य करेगी।"

"लक्ष्मी"—नरेन की वाणी में विस्मय था।

सुधा उसी आर्द्र भाव से बोली : "यह धन की देवी है बेटा; स्वर्ण

के देश में रहती है। बड़ी मोहिनी है। वह उन्हींके पास जाती है जो श्रम करते हैं।"

नरेन ने मन ही मन सोचा, वह खूब श्रम करेगा और वाह ! तब वह स्वर्ण देश की देवी उसके घर रहेगी। वह भी संतरे-केले खायेगा, रमण जैसे स्वैटर पहनेगा। अपने रहने के लिये बड़ा-सा महल बनवायेगा। अहा ! तब माँ कोई काम नहीं करेगी। वह भी रमण की माँ की भाँति नौकरों पर आज्ञा चलायेगी। इन्हीं सुकल्पनाओं में बालक सो गया। सुधा ने वात्सल्यमयी दृष्टि डालकर उसे लिहाफ से अच्छी प्रकार ढक दिया। मानों उसके आशीर्वाद इस रूप में नरेन के इर्द-गिर्द लिपटे थे।

◇ ◇ ◇

नरेन दो दिन से गुब्बारे बेचने नहीं आया। प्रभा को रह-रहकर उसका ध्यान आता था। कहीं अस्वस्थ न हो। आया क्यों नहीं। दो-तीन बार तो रमण ही पूछ बैठा था कि गुब्बारे वाला लड़का क्यों नहीं आया। तीसरे दिन नरेन आया। "कहो नरेन, ठीक तो थे'—किन्तु प्रभा ने देखा नरेन अकेला नहीं। प्रभा अपनी अधीरता पर हँस पड़ी। फिर अभ्यर्थना के लिये उठती हुई बोली : "आइये बहिन। चाहे हमारा साक्षात् परिचय न हो तो भी नरेन के नाते मैं आपको पहचानती हूँ।"

इस मैत्रीपूर्ण स्वागत ने सुधा को मुग्ध कर लिया : "नरेन ने ठीक ही आपकी प्रशंसा की थी, वे बड़ी अच्छी हैं।"

प्रभा अपनी प्रशंसा से घबरा उठी। विषय परिवर्तन करती हुई बोली : "नरेन बड़ा प्यारा बच्चा है, फिर स्वाभिमान के जो भाव आपने उसमें भरे हैं···।"

बात काटकर सुधा बोली : "अब तक के जीवन में यही तो उसे दे सकी हूँ बहिन।"

"इसी वयस में यह बड़ा चतुर है। मैं इसकी बातें सुनते ही इसकी

माँ का महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्व समझ गई थी। माँ बच्चे को जो चाहे, बना सकती है।"

सुधा बार-बार की प्रशंसा से झेंप रही थी। प्रभा की वह सराहना उसे पुलकित भी कर रही थी। मोहल्ले वाले लोग उसका आदर अवश्य करते थे, किन्तु किसीने उसकी बातों में प्रशंसा नहीं की थी। फिर भी वह कुछ लज्जा का अनुभव कर रही थी। बोली : "आप मुझे नाहक आदर दे रही हैं। मैं तो केवल कर्त्तव्य-पालन कर रही हूँ। वह भी स्वार्थवश, नरेन मेरा पुत्र है। बचपन से ही वह भाग्य और समाज के थपेड़े सह रहा है। उसे इस योग्य बनाना है कि वह सभी बाधाओं का सामना कर सके, अचल रह कर।"

"यही तो, यदि सभी नारियाँ, बच्चों का निर्माण इस दृष्टिकोण से करे तो समाज कितना सुदृढ़ हो जायेगा।"

"नहीं बहिन, परिस्थितियाँ होती हैं। जो मेरी परिस्थितियों ने मुझे सिखाया है, वही मैं नरेन को सिखाना चाहती हूँ।"

प्रभा ने स्नेहातिरेक से उसका हाथ थाम लिया। दोनों महिलाओं में बहनापा स्थापित हो गया। प्रभा ने मन ही मन चाहा कि वह सुधा जैसी कर्तव्य-निष्ठ बने और सुधा ने अन्तर से प्रभा की मंगल कामना चाही। सुधा के जाने पर भी वह उसीकी बात सोचती रही, उसके महत् स्वभाव की। पति को भी उसने बताया। उन्होंने कहा : "तुम अवश्य उसकी सहायता करो प्रिये।"

"वह महान है। वह लेना भी नहीं चाहेगी। बड़ी स्वाभिमानिनी है।" प्रभा ने कहा।

दोनों परिवारों का संसर्ग बढ़ता गया। अब नरेन कभी-कभी रमण के लिये गुब्बारों के साथ सुनहरी कागज की फिरहरी उपहार लाता और यदा-कदा संतरे-केले भी लाता। प्रभा को भी 'मौसी' पुकारने लगा था। सुधा आठवें-दसवें दिन उनके यहाँ आने लगी। वह प्रभा का कई कुछ सँवार जाती। फटे-उधड़े कपड़े मुरम्मत कर जाती, कभी बिल्कुल बड़ी

बहिन बनकर वह रमरा के स्वास्थ्य के विषय में निर्देश कर जाती। कभी प्रभा पूछती : "दीदी, अपनी अतीत की कहानी तो तुमने सुनाई नहीं।"

सुधा मुस्कराकर कहती : "मेरी कहानी थोड़ी है, वह तो सबके जीवन की कहानी है, उतार-चढ़ाव की कहानी।"

"उतार-चढ़ाव क्या ?"

"और क्या बहिन। उतार-चढ़ाव, चढ़ाव-उतार यह चक्र तो निरन्तर चला ही करता है।"

किन्तु इस पहेली को प्रभा नहीं समझ सकी। समझती भी कैसे। उसने चढ़ाव तो देखा था, परन्तु उतार नहीं।

◇ ◇ ◇

सुधा के भाग्य-चक्र में अभी सुनिश्चित धुरी पर स्थिर होना नहीं लिखा था। गाँव से देवर का पत्र आ गया। वह वहाँ बिसातीखाने की दुकान खोलना चाहता था इसलिये मकान उसे चाहिये। सुधा को गाँव रहना होगा। उसके मानस-उदधि में विक्षोभ की कुछ चंचल लहरें उठीं; किन्तु तत्क्षरा अपने को सम्भाल लिया उसने। पगली, जो मिलता है, उसे स्वीकार कर। तो भी मोहल्ले वालों का प्रेम ठुकराना उसे बहुत चुभा, प्रभा के सौहार्द ने भी टीस उत्पन्न की। फिर भी ऊपर से वह उसी प्रकार शान्त रही जैसे हिम-खण्डों के भीतर बहने वाली जलधारा। नरेन को पुकारकर उसने कहा : "हम लोग गाँव जायेंगे नरेन।"

"क्यों माँ ?"—उत्कण्ठा से नरेन ने पूछा।

"तेरे चचा का पत्र आया है बेटा, उन्हें इस मकान की आवश्यकता है।"

नरेन जानता था, गाँवों में प्रायः विद्यालय नहीं होते और यदि होते भी हैं तो छोटे-छोटे, किन्तु महत्वाकांक्षाएं उसके बाल्य हृदय में पनप रही थीं। वह तो खूब पढ़-लिखकर लक्ष्मी को अपने संकेत पर नचाने का

स्वप्न देखता था : "मैं पढ़ूंगा कहाँ, वहाँ विद्यालय नहीं होगा।"

"ईश्वर चाहेगा तो तेरी प्रगति को कोई अवरुद्ध न कर सकेगा मेरे लाल" और उसने नरेन को कण्ठ से लगा लिया। उसके नेत्र छल-छला आये। बरबस रोकने पर भी वह रो पड़ी। नरेन माँ को रोते नहीं देखता था, अतः माँ के अश्रु उसे बुरे लगे। माँ के दुःख से वह खिन्न हो उठा—"मैं भी रोऊँ माँ ?"

"न बेटे, छिः तुम रोओगे पुरुष होकर" सुधा ने मुस्कराने का प्रयत्न करते हुए कहा और अश्रु पोंछ लिये।

"तो तुम रोती हो माँ होकर।"

बच्चे के इस स्नेहमय आश्वासन से माँ का हृदय पुलकित हो उठा। उसी दिन नरेन प्रभा को सूचना दे आया : "मौसी, हम लोग जा रहे हैं।" हाथ की सिलाई छोड़ प्रभा ने चौंककर पूछा—"कहाँ ?"

"गाँव।"

"क्यों ?"

"चाचा का पत्र आया है। वे यहाँ रहेंगे और हम गाँव।"

"वे यहाँ क्यों रहेंगे ?"

"यहाँ बड़े चाचा दुकान खोलेंगे, उनका लड़का यहाँ पढ़ेगा।"

"और तू ?"

अब की नरेन ने सचमुच ही बड़ों की भाँति मस्तक पर हाथ रखकर कहा—"भाग्य !"

प्रभा की हँसी निकल आई : "भाग्य क्या होता है रे ?"

"मैं क्या जानूँ, माँ कहती है भाग्य में होगा तो तू अवश्य पढ़ेगा।"

नरेन की भोली बातों ने प्रभा को प्रभावित कर दिया : "तू मेरे पास रहेगा, नरेन।"

"माँ को छोड़कर, न।"

उसकी इस अस्वीकृति में कितना बल था।

सुधा विदा लेने आई तो प्रभा की वाणी रुद्ध हो गई। नयन छलक आये, किन्तु सुधा शान्त थी। बाहर के संघर्षों ने भीतर के विप्लवों को शीतल कर दिया था। इस निष्ठुर जगत् के व्यवहार पर वह रोना नहीं, मुस्काना चाहती थी। उसकी व्यंग्यपूर्ण मुस्कान प्रभा को तीक्ष्ण लगी—"मुस्करा रही हो जीजी ?"

"हाँ, तुम्हें बुरा क्यों लगा। संसार रोने वालों को और रुलाता है और जो इसके सिर पर चरण रख मुस्कराता हुआ बढ़ जाता है, उसका दास हो जाता है। अच्छा, बहिन सहानुभूति के लिये धन्यवाद देने और सदा के लिये विदा लेने आई हूँ।"

इन मर्मान्तक शब्दों में जो व्यथा थी, प्रच्छन्न न रह सकी। प्रभा बोली : "सदा के लिये, क्या हम फिर कभी नहीं मिलेंगे ?"

"शायद।"

प्रभा बात बदलकर बोली : "दस वर्ष पश्चात् गाँव में रहना अच्छा नहीं लगेगा। फिर तुम्हारा यहाँ का व्यस्त जीवन..."

"जीवन की व्यस्तता तो वहाँ भी ऐसी ही रहेगी और वहाँ तो जागरण की और भी आवश्यकता है। यदि वहाँ की नारियों में जागृति की लहर चलाऊँ तो भी कार्य का अभाव नहीं रहेगा।"

यह कैसी नारी है, जो प्रत्येक परिवर्तन में जीवन का रस लेती है। इसके लिये परिवर्तन होना, न होना समान है। श्रद्धान्वित भाव से प्रभा बोली : "आशीर्वाद दे जाओ, मैं भी ऐसे ही मुस्कराया करूँ।"

भावावेश में सुधा ने प्रभा को वक्ष से लगा लिया।

◇ ◇ ◇

यह सब बातें अतीत की वस्तु बन गईं। जीवन में ऐसे कई अवसर आते हैं, जब हम घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करते हैं और तोड़ लेते हैं। चित्रपट पर चित्र आते हैं और समय के गर्भ में विलीन हो जाते हैं।

फिर अवधि भी तो कम नहीं रही। न जाने एक-एक करके कितने

वर्ष समय की सीढ़ियाँ लाँघते गये। एक-दो वर्ष सुधा की स्मृति प्रभा के हृदय में कुछ चपल होती रही। किन्तु अब सब धूमिल हो गया था। फिर यह चार वर्ष उसके जीवन का संक्रमण-काल ही रहे। रक्त-दबाव के कारण प्रभा के पति जब एकाएक अर्धाङ्ग के शिकार हो गये तो उसपर मानो पहाड़ टूट पड़ा। सगे-सम्बन्धियों ने भी चार-छ: मास समवेदना दिखाई, किन्तु इस जीवन-रोग का ठेका कौन ले। डाक्टर मितव्ययी तो थे पर जोड़ने के नाम पर उनके पास कुछ भी नहीं था। जो साधारण जमा पूँजी थी, वह कुछ ही मास में रोग-राक्षस ने हड़प ली। तब प्रभा ने आभूषणों पर हाथ डाला। एक-एक करके वे भी समाप्त होने लगे। तो भी विधना को उसपर दया नहीं आई, डाक्टर प्रभा की यह अवस्था देखकर रक्त के आँसू बहाता था। वह कोमल कलिका संघर्ष की आँधियों से कुचली जा रही थी और वह कुछ नहीं कर सकता था। उसकी एक टाँग एवं भुजा बेकार हो गये थे। प्रभा सदैव उसके सम्मुख मुस्कराने का प्रयास करती तो भी अभाव जो उसके करुण मुख पर अपनी छाया डाल रहा था, वह कैसे प्रच्छन्न रह सकता था। उसका वर्ण विवर्ण हो गया था। नेत्रों में एक प्रकार की रुक्षता आ गई थी। इतना भी बहुत था कि सिर छुपाने के लिये घर तो था। उसीमें वह बेचारी प्रतिष्ठा का बोझ ढोये जा रही थी। उस सम्भ्रांत महिला के लिये तो सबके सम्मुख सिसकने का, आह भरने का भी निषेध था। डाक्टर कहता : "प्रभा, इस जीवन से मृत्यु अच्छी।"

वह उसके मुख पर हाथ रख देती : "नहीं ऐसा न कहो। मुझ-पर दया करो। तुम्हारी चारपाई भी मेरे लिये वरदान है।"

निश्वास लेता हुआ वह बोला : "मेरे लिये इतना कष्ट जो सह रही हो तुम।"

"कष्ट नहीं! मेरे लिये यही सौभाग्य है। मैं तुम्हें जल्दी अच्छा कर लूंगी।"

उसके विश्वास पर डाक्टर को श्रद्धा हो आती। इतना समर्पण केवल हिन्दू नारी में ही है, जो तिल-तिलकर जलती हुई भी पति के लिये अपना अस्तित्व मिटा देना चाहती है, क्योंकि वह उसका सौभाग्य है ।

इसी बीच रमण ने बी० ए० कर लिया था। परिस्थितिवश उस का पढ़ना बन्द हो गया। प्रभा ने दो-एक प्रतिष्ठित महानुभावों से मिलकर उसके लिये किसी कार्यालय में क्लर्की खोज दी। वह वहाँ काम करने लगा। उसके लिये जो डाक्टर या इन्जीनियर बनाने की कल्पनाएँ थीं, वह दुष्कल्पनाएँ सिद्ध हुईं ।

प्रभा शाम को भोजन का आयोजन कर रही थी। रमण के आने का समय हो रहा था। आते ही रमण बोला: "माँ हमारे जो नये सुपरिंटेंडेंट आये हैं, वे तुमसे मिलना चाहते हैं।"

आश्चर्य से प्रभा ने पूछा: "क्या कहा ?"

"हाँ माँ ! बड़े साधु स्वभाव के हैं। न जाने कब की पहचान है। आते ही कहने लगे: "तुम रमण हो ?"

प्रभा ने सुप्त स्मृतियों को जाग्रत करना चाहा: "क्या नाम है ?"

रमण कोट उतारते हुए बोला: "एन० कुमार लिखते हैं।"

"आयु कितनी है ?"

"यही कोई पच्चीस वर्ष, बड़े सुन्दर नौजवान हैं, लम्बे, ऊँचे।" तो भी उसकी स्मृति में कोई हलचल नहीं दिखी।

दूसरे दिन रमण के साथ वे आ ही गये। रमण सकुचाकर उन्हें ड्राइंग रूम में बिठाना चाहता था किन्तु वे तो अपना घर समझ एकदम भीतर चले गये: "प्रणाम मौसी।" प्रभा ने सविस्मय देखकर कहा—"अरे, नरेन बेटा है। इतना बड़ा हो गया"—फिर आशीर्वाद देते हुए बोली—"युग-युग जियो, तुम तो अब एन० कुमार हो गये। कल रमण ने बताया तो मैं जान ही नहीं सकी।"

"तुम्हारा तो वही नरेन हूँ मौसी ।" नरेन की वाणी में वही आत्मीयता और विनम्रता थी। इसके पश्चात् इधर-उधर की बातें हुईं। कितना पढ़ा, कैसे पढ़ा; गाँव के जीवन के विषय में। तब एका-एक प्रभा को सुधा का ध्यान आया—दीदी कैसी हैं—इस प्रश्न पर नरेन चुप हो रहा। केवल एक दीर्घ निश्वास ने उसके प्रफुल्ल बदन को शोकमय बना दिया। प्रभा समझ गई। बोली : "जब उनके सुख का समय आया, वह चल बसीं। यह संसार-चक्र है बेटा, मुझे उनके वे शब्द अभी स्मरण हैं, यह जीवन उतार-चढ़ाव की कहानी है ।"

नरेन को वे दिन याद आये। वह सोचा करता था—वह पढ़-लिख-कर बड़ा आदमी बनेगा—लक्ष्मी को नचायेगा—माँ ने कहा था, 'वह स्वर्ण देश की परी है,' उस समय वह सचमुच ही उसे अप्सरा समझता था। आज वह उसके रहस्य को समझ गया था। जब वह बड़ा मनुष्य बना तो लक्ष्मी तो आ गई, किन्तु माँ छोड़ गई, यह कितने दुःख की बात है। वह भावुक हो रहा था तो भी अपने को संयत करते हुए उसने कहा : "वह कर्त्तव्य की प्रतिमा थीं। उन्हें कोई बीमारी नहीं हुई। न जाने दो दिन पहले कैसे उन्हें अपनी मृत्यु का पता चल गया। एक दिन पहले कहा—नरेन, मेरे अभाव में घबराना मत। बेटा, माँ की छत्र-छाया से बढ़कर उस जगनियन्ता की छाया है। यह आरोह-अवरोह जीवन के दो पहलू हैं। नदी के दो कूल हैं, कभी इस पार, कभी उस पार; इनसे कभी न डगमगाना; नैया उसीकी पार लगती है, जो लहरों को चीरता हुआ आगे बढ़ जाता है।"

ऐसी सुदृढ़ नारी के प्रति प्रभा की श्रद्धा उमड़ आई। मन ही मन नमस्कार कर बोली : "वह देवी थीं।"

बात बदलकर नरेन बोला : "आप कैसी हैं, रमण को देखते ही पहचान गया। अब उसीसे पता चला कि उसके पिता चार वर्ष से अस्वस्थ हैं।"

"हाँ कुछ ऐसी ही परिस्थितियाँ रही हैं"—प्रभा ने संक्षिप्त उत्तर दिया। नरेन ने उठते हुए कहा : "अच्छा अब आज्ञा दीजिये।"

"क्या बिना जलपान के ही ?"

"फिर किसी दिन आपका अनुग्रह स्वीकार करूँगा। यह तो मेरा ही घर है।"

"अच्छा तो कल संध्या का भोजन"—प्रभा के आग्रह के सम्मुख नरेन ना नहीं कर सका। नरेन चला तो रमण उसे छोड़ने साथ गया। मन ही मन वह प्रसन्न था कि सुपरिंटेंडेंट उसके इतने आत्मीय हैं। प्रभा की दृष्टि उन दोनों का अनुसरण करती रही। रमण और नरेन, उतार-चढ़ाव के दो प्रत्यक्ष रूप उसे दीख रहे थे। जीवन-चक्र के उतार-चढ़ाव का रहस्य वह जान गई थी।

मंजुला

पूज्य पिता जी,

खेद है, मैं अब तक आपकी विडंबना का कारण बनी रही। आज मेरा नारीत्व विद्रोह कर उठा है। विवाह के नाम पर होने वाला अनाचार असह्य है। मेरे सम्मुख एक ही मार्ग है, गृहत्याग। आप इसकी चिन्ता न करें, जब तक नारी का आर्थिक दृष्टिकोण नहीं बदलता, तब तक उसकी समस्याएँ उलझन बनी रहेंगी। विदा !

आपकी पुत्री,
मंजुला।

बाबू प्रेमनाथ ने पत्र पढ़ा और सिर थाम लिया। एक-एक शब्द खरोंच के समान हृदय चीरता गया। नेत्रों के सम्मुख अन्धकार छा गया और यदि उनकी छोटी लड़की सविता उन्हें न बुलाती तो कदाचित् चेतना भी न लौटती। उसका स्वर सुन उनकी मूर्छना भंग हुई। दीर्घ निश्वास लेकर बोले : "चली गई, बन्धन मुक्त हो गई।" उनकी पत्नी फूट-फूटकर रो उठी। सविता आंचल में मुख छिपाकर भाग गई। बाबू प्रेमनाथ बार-बार अपने को कोस रहे थे। जितना ही इस विषय को गम्भीरता से सोचते, वे अपने को अपराध का उत्तरदायी पाते। सब दोष उन्हींका

है, हाँ उन्हींका। किन्तु उनका क्या दोष ? वे पिता थे। अपना उत्तरदायित्व उन्हें निभाना था। उनकी पत्नी शान्ता ने उनका सोना कठिन कर दिया था। भला युवती लड़की के होते माता-पिता चैन की नींद कैसे ले सकते थे। कैसे उसके विवाह की चिन्ता न करते, सत्य ही वह दोषी नहीं, तभी पत्र के अक्षर, मंजुला का निरीह मुख उनके हृदय में द्वन्द्व मचा देते। वे फिर विक्षिप्त हो उठते। पुत्री की ममता उन्हें आतुर कर देती।

रात्रि विश्राम का संदेशा लेकर आई, किन्तु आज पलकों में नींद नहीं। गत बीस वर्ष का इतिहास जैसे आज मूर्तिमान हो उठा।

मंजुला उनकी प्रथम सन्तान थी और पाँच वर्ष तक एकलौती ही रही। दूसरी पुत्री सविता और पुत्र उमेश। उमेश बारह वर्ष का है और आठवीं कक्षा का छात्र है। माता-पिता की समस्याएँ समझने में वह सर्वथा असमर्थ है। सविता दसवीं श्रेणी की छात्रा है। उसका शैशव अभी छुटा नहीं तो भी उनके कष्ट को कुछ पहचानती है। अब रही मंजुला, वह गत वर्ष बी० ए० कर चुकी है। निःसन्देह बाबू प्रेमनाथ आर्थिक स्थिति से मध्यम श्रेणी के थे, किन्तु शिक्षा के विषय में वे उदार थे। मानसिक विकास के साथ ही सामाजिक जीवन के लिये भी वह शिक्षा को आवश्यक समझते थे। एतदर्थ ही उन्होंने मंजु को बी० ए० करवाया। सविता भी पढ़ रही थी और उमेश को वह डाक्टर बनाना चाहते थे, किन्तु सब स्वर्णिम स्वप्न धूमिल-से दीख पड़ते थे। लगभग दो वर्षों से वे मंजुला के वर के लिये भटक रहे थे। मंजुला शिक्षित और सुन्दर है; वर भी सुयोग्य होना चाहिये। किन्तु मध्यम वर्ग में वैसा वर मिलना कठिन था और उच्च वर्ग वाले लड़के की योग्यता का मूल्य प्राप्त करना चाहते थे। क्रमशः तीन लड़के वाले आये। प्रदर्शनी की वस्तु की भाँति मंजुला को प्रदर्शन भी करना पड़ा, किन्तु लेन-देन के प्रश्न पर बात अटक गई।

आज से एक सप्ताह पहले भी एक वर आया था। उस लड़के

का मूल्य माँगा गया था, केवल दस हजार। पहले दो वरों की बारी प्रेमनाथ ने उपेक्षा की थी। सोचा था, सुन्दर, सुशिक्षित पुत्री के लिये वरों की कमी नहीं रहेगी, किन्तु उनकी धारणा विरुद्ध सिद्ध हुई। समाज की धारणाएँ परिवर्तित होना सहज ही नहीं दुष्कर हैं, अतः उन्होंने यह कड़वा घूँट पीना स्वीकार कर लिया। उन्होंने समझा एक पिता कितना विवश है एक पुत्री के लिये। किन्तु मंजुला इस षड्यन्त्र से अनभिज्ञ ही रही। उसने सविता से यही सुना कि विवाह की सहमति हो गई है, सोचा चलो बला टली।

उस दिन की स्मृति बाबू प्रेमनाथ को अभी भूली नहीं थी, जिस दिन मंजुला की सखी शोभा आई थी।

दोनों सहपाठिनें थीं, किन्तु शोभा बी. टी. करके शिक्षिका का कार्य करने लगी थी। स्वतन्त्र मत की थी। उसके मतानुसार आर्थिक दृष्टि से नारी को स्वावलम्बी होना चाहिये। आर्थिक स्थिति के कारण मंजुला आगे न पढ़ सकी, दूसरे बाबू प्रेमनाथ शिक्षा की अनिवार्यता तो समझते थे, किन्तु आर्थिक स्वतन्त्रता की नहीं। शोभा शरदावकाश में घर आई थी। मंजुला की सगाई सुन तो उसे हर्ष हुआ, किन्तु दस हजार की बात सुन तन-बदन में आग लग गई। तुरन्त गई मंजुला के पास। खाँसकर चौंका दिया। मंजु ने बढ़कर आलिंगन में ले लिया। परिहास के स्वर में शोभा बोली : "अब तो प्रसन्न हो"—प्रत्युत्तर में मंजु के कपोल रक्तिम हो उठे। "अब की तो खरा मूल्य पड़ा है।"

"क्या ?" चकित-सी मंजुला ने पूछा।

"जी हाँ, केवल दस हज़ार।"

"क्या कह रही हो तुम ? पहेलियाँ तो न बुझवाओ।"

"ठीक ही कह रही हूँ। चाचा जी समाज के सम्मुख ठहर नहीं सके, नत हो गये।"

उत्तेजना से मंजु ने कहा : "यह हो ही नहीं सकता, यह कैसे हो सकता है बहिन ?"

शोभा उसकी अवस्था देख द्रवित हो उठी : "होना भी नहीं चाहिये, हम शिक्षित नारियाँ ही यदि रूढ़ियों के विरुद्ध संघर्ष न सकीं तो धिक्कार है।"

इसके पश्चात् मंजुला ने सविता द्वारा विवाह के प्रति विरोध प्रदर्शित किया, किन्तु बाबू प्रेमनाथ अविचल रहे। वचन टूट नहीं सकता। समाज में हेठी होगी। निर्भयता से उन्होंने उत्तर दिया : "माता-पिता के कार्य में लड़कियों को हस्तक्षेप करने की कोई आवश्यकता नहीं। यह आधुनिक सभ्यता की उच्छृंखलता है अन्य कुछ नहीं।"

मंजु निस्तब्ध रह गई। फिर वह कुछ बोली नहीं, किन्तु एकाएक उसके स्वभाव में परिवर्तन आ गया। वह गम्भीर हो गई। एक गहन चिन्ता उसे सदा विक्षिप्त किये रहती। कभी-कभी किसी दृढ़ संकल्प के भाव उसके मुख पर दृष्टिगोचर हो उठते। और आज यह परिणाम निकला।

बाबू प्रेमनाथ पश्चात्ताप से जल रहे थे। क्यों उन्होंने कठोरता का बर्ताव किया। यौवन अन्धा होता है। माँ व्यथित है, उसने अवश्य आत्महत्या कर ली होगी और सविता जैसे निस्पन्द-सी इस घटना को देख रही है पर समझ नहीं पाती।

◇ ◇ ◇

सन्ध्या की धुंधली छाया क्षितिज को धूमिल बनाती आ रही है। कमरे के वातायन के समीप खड़ी मंजुला उस छाया की तुलना हृदय के अन्धकार से कर रही थी। उसके जीवन में जो परिवर्तन एकाएक आकर उसकी जीवन-धारा को ही बदल गया, वह क्या कभी सम्भव था ? आत्म-ग्लानि की एक अनुभूति उसे व्यथित कर रही थी। माँ की अवस्था की स्मृति से उसका अन्तर व्याकुल हो उठा और पिता जी क्या सोचते होंगे ?

सविता के लिये मैंने क्या आदर्श छोड़ा। लोग कई प्रकार की बातों से मेरे चरित्र पर आक्षेप करते होंगे। इससे तो यही अच्छा था कि मैं आत्मघात करके सर्वदा के लिये निवृत्ति पा जाती। मैं मंजु कहलाने वाली कटुता का कारण बन गई। सबको हँसाने वाली सबको रुलाने लगी।

सोचते-सोचते वह रोने लगी। वह जी भरकर रो लेना चाहती थी, किन्तु तभी ध्यान आया, रोने का अधिकार उसे नहीं है। शोभा कहती है, नारी के अश्रु ही उसकी दुर्बलता का कारण है। नारी यदि सम्मान के साथ जीना चाहती है तो अश्रुओं पर विजय पानी होगी। अपनी दुर्बलता को एकदम बहा देना होगा। सबल होकर परिस्थितियों से जूझना होगा।

शोभा वास्तव में समर्थ है, शक्तिशालिनी है। उसका वातावरण ही इसमें उसका सहायक है किन्तु वह स्वयं…? पाँवों की आहट से घूमकर उसने देखा शोभा वस्त्र बदल चुकी है।

"कब आई शोभा ?"

"कौन-सी चिन्ता में निमग्न थी तुम ?" प्रत्युत्तर न देकर शोभा ने प्रश्न किया।

"सन्ध्या के अन्धकार और मेरे जीवन के अन्धकार में कुछ अन्तर नहीं है बहिन।"

"हमें अन्धकार नहीं प्रकाश देखना है। देखो सन्ध्या के अन्धकार में भी एक नक्षत्र एकाकी मुस्करा रहा है।"

"तुम सबल हो बहिन।"

"तुम भी हो सकती हो, तनिक आत्मविश्वास होना चाहिये।"

"मैंने चाचा जी को सूचित कर दिया है कि चिन्ता न करें, मंजु मेरे पास सुरक्षित है। कल से तुम भी विद्यालय चलोगी। समझी ?"

मंजु के नेत्रों में कृतज्ञता चमक उठी। सखी से लिपटकर बोली: "तुम कितनी अच्छी हो शोभा।"

"मैं केवल अपना कर्त्तव्य निभा रही हूँ। मेरे हृदय में उस समय एक कसक उठती है जब तुम अपना अस्तित्व मिटाने की सोचती हो। मिटने की अपेक्षा बनना कहीं श्रेष्ठ है, अतः अपना नव निर्माण करो। मिटना तो कायरता है।"

दोनों सखियों को इकट्ठे रहते लगभग दो वर्ष हो गये। पारस्परिक सहयोग से दोनों ने एम० ए० कर ली। अवकाश के दिनों में वह घर भी हो आती थी, उसका जीवन सर्वथा परिवर्तित हो गया।

शोभा विद्यालय से लौटी थी। मंजु नहीं आई अभी। अनुचर ने चाय के लिये पूछा तो कहा: "मंजु को आ लेने दो।" वह सुस्ताने का प्रयत्न कर रही थी। असंख्य विचार-लहरियाँ उसके मानस को आलोड़ित कर रहीं थी। नारी के लिये विवाह अनिवार्य है या नहीं? वह गम्भीर हो उठी। यद्यपि विवाह की अनिवार्यता पुरुष के लिये भी उतनी ही महत्वपूर्ण है तो भी नारी झुकती है। क्यों? क्योंकि समाज ने इसे बाजारबाजी का साधन बना दिया है। सौदे की वस्तु बना दिया है। समाज के नियम एकदम बदलने चाहियें। किन्तु बदले कौन? वह खिल-खिला उठी। उसके अन्तर से प्रतिध्वनि आई—'हम!'—वह अपनी सफलता पर हँसी।

"हाँ हम, प्रगतिशील नारियाँ।"

"मिस शोभा यहाँ रहती हैं?"

कोई आगन्तुक उसके अनुचर से ज्ञात कर रहा था। वह आधुनिक युग का युवक था। शोभा ने उसे कभी नहीं देखा था। उत्सुकता से भीतर बुलवाया: "आप मुझसे मिलना चाहते हैं?"

आगन्तुक एकाएक उत्तर न दे सका। वह कुछ अस्थिर-सा था। शोभा ने कुर्सी आगे बढ़ाकर कहा—"बैठिये।"

युवक बैठ गया और स्वयं को शान्त करने का उपक्रम करने लगा। शोभा उसके मुख पर रंग बदलते भावों को अध्ययन करने की चेष्टा कर रही थी।

"मेरा नाम राजीव है। आप मुझसे अपरिचित हैं।" वह कहने लगा। आश्चर्य-चकित-सी शोभा ने स्वीकृति दे दी।

युवक ने फिर कहना आरम्भ किया : "आज से लगभग दो वर्ष पूर्व आपकी सखी मंजु से मेरी सगाई हुई थी।"

शोभा की स्मृति में विद्युत-सी कौंध गई, वह और उत्कंठित हुई।

वह कह रहा था…"किन्तु पिता जी की लोलुप वृत्ति ने इसमें बाधा डाली। अभी संघर्ष चल ही रहा था कि मंजु के गृह-त्याग की सूचना मिली। आत्म-ग्लानि से मेरा हृदय भर उठा। प्रायः ऐसी समस्याओं के लिये आत्मघात करना लड़कियों के लिये साधारण बात है। मैंने ज्यों-ज्यों इस विषय को सोचा अपने को दोषी पाया। छाया सदृश मंजुला की मंजुल मूर्ति मेरे भावों में समाई रहती। प्रथम दर्शन का वह शांत मुख मुझे घूरता और कहता कि मैंने अन्याय किया है। पिता जी पर क्रोध आया। जब हम हित-अनहित का विवेक रखते हैं तो बड़े-बूढ़ों का हस्त-क्षेप करना अनधिकार चेष्टा है। मैं भी विवाह के लिये अड़ गया; मैं किसी मूल्य पर पिता जी की धन-लोलुपता के लिये अपनी व्यक्तिगत भावनाओं का बलिदान करने को उद्यत न हुआ। पिता जी रूठ गये, माँ ने रो-रोकर जीवन समाप्त करने की धमकी दी किन्तु व्यर्थ। अकस्मात् ज्ञात हुआ कि मंजु जीवित है और आपके पास रहती है। बाबू प्रेमनाथ के पास गया तो उन्होंने कहा कि मंजुला स्वतन्त्र है, विवाह करना न करना उसकी इच्छा पर निर्भर है।"

अपना वक्तव्य समाप्त कर राजीव ने उत्सुकता से शोभा की ओर देखा।

"मैं आपकी क्या सेवा करूँ?" शोभा ने पूछा।

"मैं अब आपकी शरण हूँ, आप स्वयं सोचें।"

"आपकी भरसक सहायता करने का प्रयत्न करूँगी। आप हाथ-मुँह धोकर स्वस्थ हो जाइये।" फिर मुस्कराई : "अब कथानक चरम सीमा को छूना चाहता है।"

कक्ष में प्रवेश करते ही मंजु ने किसी नवागन्तुक की अटैची देख कौतूहलपूर्ण स्वर में पूछा : "कौन अतिथि आया है शोभा ?"

"मेरे चचेरे भय्या।"

मंजु कुछ न बोली, वह जानती थी कि शोभा के कई चचा हैं और उनके लड़के भी हैं। उसे कोई आश्चर्य नहीं हुआ।

राजीव को वहाँ रहते एक सप्ताह हो गया। वह अब निधड़क भाव से शोभा को दीदी कहने लगा। मंजु से भी उसका आत्मीय जैसा व्यवहार हो गया।

उस दिन शोभा किसीके निमन्त्रण पर गई थी। साढ़े चार हो चुके थे। राजीव चाय पीने नहीं आया। मंजु झल्ला रही थी, शोभा स्वयं खिसक जाती है, बोझ मेरे सिर पर डाल जाती है। वह खीझ ही रही थी कि राजीव ने चौंका दिया : "चाय नहीं दीजियेगा क्या ?"

मंजु ने काम छोड़ दिया, मुस्कराकर कहा : "मैंने सोचा आज चाय की आराधना न होगी।"

"क्षमा चाहता हूँ। आज कुछ मानसिक विश्लेषण में ऐसा उलझा कि उठने को मन नहीं हुआ।"

केतली से चाय ढालते हुए मंजु ने प्रश्न किया : "कौन-सी समस्या थी ?"

"आज-कल मेरे लिये कौन-सी उलझन हो सकती है, आप स्वयं समझ सकती हैं।"

"शादी-ब्याह की।" अनायास ही मंजु के मुख से निकल पड़ा। उसकी नमित दृष्टि ऊपर को उठी, किन्तु टकराकर लौट आई।

"आपका लक्ष्य उचित ही बैठा है। इसी विषय पर माता-पिता से झड़प हो गई। विवश होकर घर छोड़ दिया।"

मन ही मन मंजु ने कहा : "हम दोनों एक ही पथ के पथिक हैं!"

राजीव ने कथा आगे बढ़ाई : "एक मास पूर्व घर से भागा था, किन्तु पिता जी न जाने कहाँ से पता पा गये। उनका पत्र आया है कि कल यहाँ पहुँच रहे हैं।"

उसकी विवशता लक्ष्य कर मंजु को हँसी आई। बरबस हँसी दबाते हुए कहा : "तो आप ब्याह कर लीजिये।"

"किन्तु ब्याह के योग्य पत्नी भी हो, जीवन भर का प्रश्न है।"

"जी हाँ!" संक्षिप्त उत्तर दिया मंजु ने।

"यदि आप मेरी अनुनय स्वीकार करें..."

मंजु तमतमा उठी। तीक्ष्ण स्वर में बोली : "आप भूल कर रहे हैं, आप अतिथि हैं।"

धक्का-सा खाकर राजीव लौट गया, उठते हुए बोला : "क्षमा करें।"

मंजु भौचक्क-सी रह गई। राजीव की दुर्बलता ने उसे चकित कर दिया। राजीव पुरुष होकर परिस्थितियों से टक्कर नहीं ले सकता। उसे एक व्यथा-सी हुई, क्योंकि वह स्वयं विवशता की शिकार थी। उसने चाय की दूसरी प्याली ढाली। राजीव की अधूरी चाय का उसे दुःख था। उसी समय शोभा आ गई।

"राजीव भाई कहाँ है मंजु! चाय पर नहीं आये?"

किन्तु सदा की भाँति मंजु ने मुस्कान की किरणें प्रसारित न कीं। वह मौन भाव से चाय पीती रही। प्याली समाप्त कर बोली : "आये थे किन्तु एक बात राजीव को समझा दो कि अनधिकार चेष्टा का यत्न न करें।"

शोभा का माथा ठनका, अवश्य नाटक का अन्तिम दृश्य आने वाला

है। निरीहता से पूछा : "क्यों, क्या हुआ ?"

तमककर मंजु बोली : "सौगन्ध से. तुम्हारे भाई थे नहीं तो···"

"कहो न क्या हुआ ?"

"होगा क्या, वही पुरुषों वाली बात, अपनी प्रेम-कहानी ले बैठे !"

शोभा विस्फारित हास्य कर उठी : "इसमें दोष क्या है ? युग्म तो अच्छा रहेगा।"

मंजु और भी क्षुब्ध हो उठी : "तो तुम भी इस षड्यन्त्र में सहयोगी हो। यह तुम्हारे आश्रित होने का दण्ड है क्या ?" और वह सच ही रो पड़ी।

शोभा द्रवित हो गई। कुर्सी की भुजा पर बैठकर मंजु को आलिंगन में ले लिया। "तुम कितनी भोली हो मंजु।" स्नेह से अश्रुकणों को पोंछ दिया उसने : "आज एक रहस्योद्घाटन मुझे करना ही होगा। राजीव मेरा भाई नहीं, यह वही युवक है जिसके साथ तुम्हारी सगाई हुई थी। वह बेचारा दो वर्ष से माता-पिता के साथ संघर्ष कर रहा है, केवल तुम्हारे लिये। क्या उसकी साधना का कोई मूल्य नहीं ?"

मंजुला चौंक उठी। साधना ! केवल उसके लिये ! "किन्तु मेरी समस्याएं तो अब भी वही हैं। मूल्य चुकाने में तो मैं अब भी असमर्थ हूँ।" उसने कहा।

"उस विषय में न सोचो मंजु। लगभग दो वर्ष···"

"किन्तु मैं कैसे भूल सकती हूँ कि दो वर्ष पहले उसके पुरुषत्व का मूल्य दस हजार माँगा गया था और आज वह क्या चाहता है ?"

"आज मैं कुछ नहीं चाहता। मैं केवल पुरुषत्व और नारीत्व का आदान-प्रदान चाहता हूँ। लेने से पूर्व देना चाहता हूँ और इसमें कोई दोष नहीं।"

मंजुला लज्जित थी। शोभा चकित। दोनों ही इस बात से अनभिज्ञ थीं कि राजीव पार्श्व-कक्ष में उनकी बातें सुन रहा है। राजीव ने फिर

कहा : "आप ही पूछ दीजिये न शोभा दीदी ! इस विनिमय में इन्हें क्या आपत्ति है। सृष्टि के अनादिकाल से नारी और पुरुष एक दूसरे के अभावों की पूर्ति कर रहे हैं। यह आदान-प्रदान शाश्वत है। समाज की भूल से यदि वह दूषित हो जाय तो उसका निराकरण तो हमीको करना होगा। मेरा प्रायश्चित्त क्या इसका स्पष्ट प्रमाण नहीं ?"

शोभा ने मंजु को निहारा। वह नमित शीश बैठी थी। "क्यों मंजु, क्या इच्छा है ? यह आदान-प्रदान कितना स्वाभाविक और सुन्दर है ? इसे तुम भी मानोगी ही। फिर स्वीकार करने में क्या आपत्ति है ?"

दोनों की प्रश्नसूचक दृष्टियाँ मंजु की ओर गईं ! उसके मुख पर क्षोभ की रेखा नहीं मृदुल स्मिति की झलक थी।

मनोरंजन

"नीला ! यह मित्र परेश ।" नीला कमर में धोती कसे नौकर से जाले उतरवाने में व्यस्त थी कि उसके पति अनिल ने अपने मित्र के साथ प्रवेश किया । नीला ने झटपट साड़ी खोल आँचल ठीक किया । अस्त-व्यस्त केश-राशि को सुलझाती हुई घूमकर परेश का अभिवादन किया— "नमस्ते, आइये बैठिये, ये आपको आज ही याद कर रहे थे ।"

परेश नमस्कार का उत्तर देकर बोला : "इनका पता तो मुझे परसों ही लग गया था । परन्तु अस्वस्थता के कारण नहीं आ सका ।" —पुनः मुस्कराकर बोला : "कैसा लगा यह स्थान ?"

लीला ने हँसकर उत्तर दिया : "अच्छे-बुरे का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता, जब रहना है तो अच्छा बनाकर रहना पड़ेगा ।"—पुनः पति की ओर निहारकर कहा : "पर आपके मित्र कुछ निराश हैं ।"

परेश ने देखा अनिल भी मुस्करा रहा था ।

"क्यों भाई, निराश हो गये । किन्तु जितना तुम हमारे शहर को बुरा बताते हो, उतना नहीं है । देखिये भाबी जी, छोटा होने पर भी आपको सोसायटी अच्छी मिल जायेगी । पुरुषों की क्लब तो है ही, स्त्रियों

की क्लब भी है। यदि आप कहें तो आज शाम को भय्या को यहाँ की बहार दिखा लाऊँ।"

"बड़ी प्रसन्नता से"—नीला चहककर बोली : "मैं तो चाहती हूँ इनका जी बहले।"

इतने में आया अनिल के दो वर्षीय बच्चे मन्टू को लेकर आ गई। अपरिचित पुरुष को देख वह नीला के गले से चिपट गया। परेश ने बुलाना चाहा तो उसने और ज़ोर से नीला के गले को जकड़ लिया। नीला मीठी झिड़की देकर बोली : "कैसा पागल है, क्या मेरा गला घोंट देगा। जयहिन्द कर चाचा जी को"—माँ का आदेश पा मन्टू सीधा खड़ा हो गया, फौजी सैल्यूट (सैनिक अभिवादन) देता हुआ बोला—"जैहिन्द ताता जी"—परेश ने मन्टू को उठाकर चूम लिया। बालक की झिझक भी चाचा के नाते से दूर हो गई थी। परेश उठता हुआ बोला—"अब मैं चलता हूँ। अनिल, शाम को तुम्हें ले जाऊँगा।"

और वह नमस्कार कर चला गया।

◇ ◇ ◇

और शाम को अनिल ने क्लब जाकर देखा कि परेश ने झूठ नहीं कहा था। सोसायटी भी अच्छी है। टेनिस के दो कोर्ट हैं, दो बेडमिन्टन के। खेलने वाले खेल रहे थे। जो अधिक हलचल वाली गेम्ज़ खेलना नहीं चाहते, उनके लिये और कई प्रकार की खेलें हैं। कुछ लोग टेबुल-टेनिस खेलने में व्यस्त थे। कुछ कैरम बोर्ड। एक ओर कुछ अधेड़ पुरुष दो ड्राफ्ट खेलने वालों को देख रहे थे। एक ओर मेज़ पर ताश के साथ ब्रिज खेली जा रही थी। नवीन व्यक्ति को अपने वातावरण में प्रवेश करते देख सबके ध्यान उसकी ओर आकृष्ट हो गये। सब उत्सुकता से परेश की ओर देखने लगे। परेश ने अनिल का परिचय देते हुए कहा : "मेरे परम मित्र अनिलकुमार, हमारे शहर के नये रेवेन्यु असिस्टेंट"—इसके पश्चात् उसने अनिल को सब सदस्यों से परिचित करवाया। सबने

अनिल का अभिवादन किया। ताश पर बैठे एक व्यक्ति की ओर निर्देश कर परेश ने कहा : "मि० राजकुमार, ब्रिज के निपुण खिलाड़ी। विजय ही जिनकी संगिनी है।"—राजकुमार नमस्कार कर मुस्करा दिया।

अनिल टेनिस खेलता था और अच्छी खेलता था। टेनिस के खिलाड़ियों ने उसका स्वागत किया। दो गेम खेलने के पश्चात् जब वह कुछ निश्चिन्त-सा हो गया तो तनिक सुस्ताने के लिये ताश की मेज़ पर आ बैठा। कालेज के दिनों में वह ब्रिज का शौकीन था, पर विवाह के पश्चात् नीला की लहर में सब शौक बुलबुले की भाँति विलीन हो गये। उसका अपना परिवार ही क्लब था। तीन भाई थे, दो बहिनें और नीला। आपस में ब्रिज खेलते, जो जीतता जलेबियाँ बाँटता। भाइयों के साथ टेनिस खेलता, दो एक मित्र भागीदार होते।

राजकुमार निरन्तर विजयी होता जा रहा था। अनिल को डाह हो गई। उसका हृदय भी ब्रिज खेलने को मचल उठा। परेश बोला : "तुम भी तो ब्रिज खेलते हो अनिल ?"

"तुम्हारी भाबी के संग खेलने का अभ्यस्त हो गया हूँ परेश।"

"लगा लो फिर एक बाज़ी।"

राजकुमार बढ़ावा देकर बोला : "आप भी शौक रखते हैं, आइये न एक बार"—इस चैलेंज ने अनिल को विचलित कर दिया। सोचा, चलो एक बाज़ी ही तो है, कौन रोज़-रोज़ खेलेंगे। वह सन्नद्ध हो राजकुमार का प्रतिद्वन्द्वी बन गया। नये खिलाड़ी को मैदान में पाँव धरते देख, सब लोग खेल देखने आ गये। पर आश्चर्य, कभी न हारने वाला राजकुमार निरन्तर पराजित हो रहा था। उपस्थित जनों में कोलाहल मच गया। राजकुमार मन ही मन विष घोलता खिसियाना होकर चला गया।

अनिल जब प्रतिदिन ही क्लब से लेट आने लगा तो नीला चिन्तित हुई। उसे पता लग गया था कि अनिल ब्रिज खेलता है। पर कहाँ तक, इससे वह अनभिज्ञ थी। वह कई बार अनिल से क्लब छोड़ने को कह

चुकी थी, पर अनिल टाल-मटोल कर देता। एक ज्वाला उसके हृदय में धधकती रहती। पहली बार तो वह विजयी हुआ पर राजकुमार ने उसे सस्ता नहीं छोड़ा। कई बार उसे हरा चुका था। फन पर चोट खाये सर्प की भाँति अनिल निष्फल आक्रमण करता था। जीतने की आशा में वह खेलने के लिये विवश हो उठता था। आफिस में भी ताश के पत्ते उसके नेत्रों के सम्मुख घूमते। उसका प्यारा मन्टू भी उसके वात्सल्य से वंचित था, नीला उसके स्वप्न-संसार से दूर थी। मुख-मुद्रा मलिन, नेत्र शून्य। नीला कारण पूछती तो उत्तर नहीं। वह उसके दुख से दुखी थी, पर भूलकर भी कभी शिकायत न करती। नन्हा मन्टू ही उसकी अमूल्य निधि था। रात्रि के निस्तब्ध वातावरण में, जब वह मन्टू को स्नेहांचल में सुलाती तो स्वर्ग-सुख प्राप्त करती। चिन्ता करते-करते वह दुबली हो गई। एक दिन अनिल उस श्रीहीन मुख-मुद्रा पर झल्ला उठता था, पर आज सब व्यर्थ है। उसके नेत्रों में उमड़ते अश्रु देखता था और विवश था। वह जीतना चाहता था, केवल जीतना।

शाम को तैयार होकर जब वह क्लब चला तो नीला ने कोट पकड़-कर कहा : "क्या सचमुच नीला हृदय से उतर गई? यह ब्रिज का चस्का छोड़ दो। मेरी इतनी प्रार्थना तो मान लो।" माँ के लाड़ले मन्टू ने पिता के टेनिस रैकेट से खेलते हुए कहा : "क्या तुम तलब जलूल जाओगे पापा जी! देखो माँ ने हमाली आया को निकाल दिया है।'

अनिल का कोई उत्तर दोनों को नहीं मिला। नीला नेत्रों में आर्द्रता भर बोली : "चलो घर लौट चलें। मुझे यह सब ज्ञात होता तो कभी वहाँ से पाँव न उठाती। अफसरी जाय भाँड़ में।"

कोट छुड़ाता हुआ अनिल बोला : "मुझे यह सब सुनने का अवकाश नहीं। मैं जीतना चाहता हूँ, केवल जीतना।"

और अनिल चला गया। नीला फूट-फूटकर रो पड़ी। नन्हा मन्टू माँ का रोना देख सहम गया। अपनी तोतली भाषा में बोला : "तुम

लोती क्यों हो माँ, पापा जी ने माला है। मैं बी उन्हें मालूँगा। बले गन्दे हैं वह।"

नीला ने उसे गले से लगा लिया।

◇ ◇ ◇

मन्टू-मन्टू करते परेश ने भीतर प्रवेश किया। पानी की बाल्टी सामने रखे मन्टू खेल रहा था। परेश को देखकर बोला : "जै हिन्द ताता जी।"

परेश ने देखा थोड़े दिनों में ही नीला दुबली हो गई है। मन्टू आधा रह गया है। आश्चर्य से बोला : "अनिल कहाँ है भाबी ? आप इतनी दुर्बल क्यों हैं ? मन्टू तो आधा रह गया है।" नीला की पलकें रो पड़ीं, अधर मुस्करा पड़े। एक साथ तीन प्रश्न। बोली : "जिस ज्योति को जुगनू समझ आँचल में डाला था वह ज्वाला बन मुझे ही भस्म करने लगी परेश भय्या ! तुम तो मनोरंजन के लिये इन्हें क्लब ले गये थे पर वह मनभंजन बन गया। जिस प्रकार भय्या को क्लब ले गये थे उसी रूप में मेरी सम्पत्ति मुझे लौटा दो; मुझ पर दया करो।"

परेश सन्न रह गया। नीला इतनी व्यथित है यह उसके लिये अनुमानातीत था। वह कुछ क्षण मौन रहा फिर एकाएक आवेश में आकर बोला : "भय्या को लेकर ही आऊँगा भाबी।" और वह वेग से निकल गया। नीला खिड़की में खड़ी तबतक उसे देखती रही जबतक वह ओझल नहीं हो गया। तदुपरान्त एक ठंडी आह भर खिड़की से हट आई। काम में उलझना चाहा पर व्यर्थ ? बैठी-बैठी सोचने लगी। सोचना ही उसका जीवन था। जब अनुचर ने आकर कहा : "बीबी जी खाना तैयार है"— तो उसका ध्यान भंग हुआ। देखा मन्टू ने सारे कपड़े भिगो डाले थे और छप-छप करता पानी उछाल रहा था। उठते हुए बोली : "एक प्लेट में मन्टू के लिये थोड़े चावल दे जा।"

तब उसने मन्टू के कपड़े बदल डाले। चावल खिलाये, खाते-खाते

ही वह ऊँघने लगा था। नीला ने उसे अंक में लिटा लिया। पलकों में नींद से क्रीड़ा करते हुए मन्टू बोला : "आया जैछी लोली गाओ माँ।" मन्टू के लिये वह सब कुछ कर सकती थी। यही तो उसका प्राण-धन था, अमूल्य निधि था। वह उसे थपक-थपककर लोरी गाने लगी—

निंदिया रानी आजा, मन्टू मेरा राजा
तुझे ब्याह कर लायेगा, जल्दी से सो जायेगा
चन्द्र खिलौना लेगा यह, अम्माँ का सुख देखा यह।

माँ के स्नेहासिक्त आंचल में मुख छिपाये मन्टू शीघ्र ही निन्द्रा के साम्राज्य में जा पहुँचा। माँ ने सोये हुए लाल को चूम लिया। पुनः धीरे से उसे विस्तर में डाल, अच्छी प्रकार ढक दुलाई अपने घुटनों तक ओढ़ ली। पर उसके नेत्र व्याकुलता से, द्वार पर होने वाली तनिक-सी आहट के लिये आतुर थे। अब अनिल आया; अब आया, पर जब पास ही पुलिस लाइन के घड़ियाल ने दस बजाये, तो वह चौंक उठी। मानो उसकी व्यथा आहत होकर गिर पड़ी। नौकर ने आकर कहा : "बीबी जी, दस बज गये। साहब अभी तक नहीं आये ?"—नीला ने बीच में ही टोककर कहा : "तू रसोई उठाकर रख दे, मुझे भूख नहीं है। तू भी खा ले।"

नौकर चला गया तो नीला अतीत-वर्तमान और भविष्यत् की सोचने लगी। थोड़े ही दिनों में वह क्या से क्या हो गई। तनिक आहट पाते ही वह चौंक उठती। उसकी चिन्ता और उत्सुकता बढ़ने लगी। इतनी देर तो अनिल कभी नहीं लगाता। शनैः-शनैः बारह भी बज गये। नयन-कोर भीग गये। और रोकते-रोकते भी दो आँसू नयनों के कारागार से निकल, कपोलों से बहते हुए नीचे बिखर गये। एक व्यथा-भरी आह, अन्तस्तल से निकल उस शून्य वातावरण को विक्षुब्ध कर गई। उसकी समस्त पीड़ा व्यथित हो रो पड़ी। इतने पर भी जब उसकी मानसिक आकुलता शान्त न हुई तो उसने खींचकर मन्टू को हृदय से लगा लिया।

वात्सल्य में विह्वल हो उसने बार-बार मन्टू का चुम्बन किया और न जाने कब मन्टू के मुख को अपने मुख से लगाये निद्रा की अंकशायिनी हो गई।

◇ ◇

क्लब में उस दिन विशेष हलचल थी। कुर्सी-मेज़ के स्थान पर भूमि पर कालीन बिछा था। अनिल और राजकुमार ताश के द्वारा भाग्य का निपटारा कर रहे थे। अनिल का मुख मलीन था। बाल अस्त-व्यस्त, नेत्र निष्प्रभ। फिर भी किसी अज्ञात आशा के वश में हो वह खेलता ही जा रहा था। रात के ग्यारह बजे थे और वह तीन सौ की बाज़ी हार चुका था। उसका सम्पूर्ण वेतन उसकी जेब में था। एक पल के लिये मन्टू और नीला के चित्र नेत्रों के सम्मुख आये, किन्तु तत्क्षण सावन के बादलों की भाँति विलीन हो गये। पराजय भी कोई जीवन है। उसने दूसरी बाज़ी सौ रुपये की लगा दी। परेश यह न देख सका, खीझकर बोला : "अब और नहीं खेल सकोगे अनिल। क्यों घर लुटाने पर तुले हो?"

अन्यमनस्कता से अनिल ने उत्तर दिया : "मुझे छोड़ दो परेश, मैं अवश्य खेलूँगा। चाहे सर्वस्व लुट जाये। पर जीतकर ही उठूँगा"—फिर राजकुमार से कहा : "आओ मि० राजकुमार, यह बाज़ी सौ रुपये की है।"

इस अवहेलना से परेश पीछे नहीं हटा : "तुम्हें हो क्या गया अनिल? कुछ तो सोचो भाई, भाबी और बच्चे का ध्यान करो।"

"तुम चुप नहीं रह सकते तो चले जाओ परेश। मैं नहीं जाऊँगा।" उपस्थित मंडली हँस पड़ी। परेश लज्जित-सा चल पड़ा। पर क्लब के फाटक पर उसके पाँव गड़ गये। नीला की वेदनापूर्ण मुखाकृति उसके सम्मुख घूम गई। उसके शब्द विषैले बाण-सदृश उसके हृदय में चुभ रहे थे। "जिस प्रकार मेरा सर्वस्व मनोरंजन के लिये ले गये थे उसी रूप

में मेरी सम्पत्ति लौटा दो भय्या । मुझ पर दया करो ।" उसका मस्तिष्क घूम गया । वह जायेगा तो अनिल को लेकर जायेगा । वह दूसरे कमरे में कुर्सी पर बैठ गया और ऊँघने लगा ।

कभी खिलखिलाहट की एक प्रबल ध्वनि रात्रि के निस्तब्ध वातावरण को गुंजित करके वायु के संग विलीन हो जाती । पर अनिल खेलने में मग्न था । बैरा ग्लासों में सोडा और शराब उँडेल कर रख गया । राजकुमार पीने का आदी था किन्तु अनिल ने नया-नया पीना सीखा था । ब्रिज में व्यस्त होने के कारण उसने सारा ग्लास एकदम समाप्त कर डाला । उसके नेत्र रक्त वर्ण हो गये, भवें तन गईं और मुख पर एक क्रूर हँसी खिलवाड़ कर उठी । संगति से मनुष्य क्या हो सकता है । कितना नैतिक पतन है ।

अनिल के पास केवल १०० रुपये और थे । विजय प्राप्त करने के लिये केवल एक बाज़ी और खेलनी होगी । केवल एक ! और बस ! आवेश में उसने शेष रुपये भी दाँव पर लगा दिये । उपस्थित मण्डली में कहकहा उठा—मान लिया, यार गुरु—जवाँदिल हो तो ऐसा—जैसे शब्दों का पिंजरा खुल पड़ा और जब तक वह कहकहा समाप्त हो, अनिल बाज़ी हार चुका था । राजकुमार अपनी विजय पर आह्लादित हो उठा । अनिल ने खीझकर जेब में हाथ डाला । जेब खाली थी । एक चवन्नी एक कोने में भाग्य को रो रही थी । सभा भंग हो गई । इतना हो-हुल्लड़ मचा कि समीपस्थ कमरे में ऊँघता परेश चौंककर उठ बैठा । कलाई पर लगी घड़ी देखी, दो बजा रही थी । तभी उसने देखा, अनिल कन्धे पर कोट रखे, सड़क की ओर तीव्र गति से जा रहा था । वह भी लम्बे डग भरता उसके पीछे हो लिया ।

सड़क पर दोनों ओर विद्युत द्वीपों की पंक्ति जगमगा रही थी । रात्रि के घोर सन्नाटे में, निराशा में आशा की क्षीण रेखा-सदृश वह

सुहावनी लगती थी । कभी-कभी वायु की वेगपूर्ण गति से पत्तों की सर्राहट रात्रि की शून्यता को भंग कर देती थी । परेश अनिल से कोई दस कदम पीछे चल रहा था । पर अनिल को यह जानने की कोई आवश्यकता न थी कि कोई उसका पीछा कर रहा है । उसके मस्तिष्क में तूफान-सा मच रहा था । गत जीवन चित्रपट की भाँति उसके नयनों के सम्मुख नृत्य कर रहा था । नीला और मन्टू—उसके जीवन का स्वर्ग । सब छिन गये । क्लब और जूए ने जीवनधारा का रुख ही मोड़ डाला । हृदय ने चाहा कि वहीं पत्थर पर सिर पटककर प्राण दे दे । पर नशे की झोंक में वैसा ही लड़खड़ाता चल रहा था । परेश उसे सँभालने को आगे बढ़ा, किन्तु जब तक उसे सँभाले अनिल ईंट से ठोकर खाकर भूमि पर औंधे मुँह गिरा । रक्त की धारा बह निकली और वह मूर्च्छित हो गया ।

सुध आने पर अनिल ने देखा वह परेश की गोद में है और उसके सिर पर पट्टी बँधी है । रात्रि की धूमिल छाया अभी उसके स्मृति-पट पर अंकित थी । क्षोभ से उसका हृदय भर आया । परेश का हाथ दबाता हुआ बोला : "मुझे क्यों बचा लिया परेश ! मुझ पापी का मरना ही श्रेयस्कर था ।"—उसके स्वर में आर्द्रता थी ।

बीच में टोककर परेश बोला : "अधिक मत बोलो । आराम से लेटे रहो । दिन चढ़ने में अभी कुछ प्रहर शेष हैं । फिर नीला भाबी की धरोहर उन्हें सौंप आऊँगा"—नीला की बात सुनकर अनिल के नयन-कोर भीग गये—"आह ! नीला को मैंने बड़ा दुःख दिया है भाई ।"—पुनः उद्विग्न होकर बोला : "मुझे अभी घर ले चलो परेश ।"—कराह उठा वह : "नीला के चरणों में सिर रखकर, क्षमा माँगकर, फिर उससे विदा ले सकूँगा । आह ! परेश बड़ी पीड़ा है ।"

"तुम्हें हुआ क्या है ? साधारण घाव है । अब नीला की चिन्ता हुई

है। आराम से लेटो। मैं अब जाके डाक्टर को बुला लाऊँ।"

अनिल ने देखा पैताने परेश की माँ ऊँघ रही है। परेश डाक्टर को लेने चला गया तो अनिल माँ से बोला : "आप विश्राम करें माता जी, मैंने आपको बड़ा कष्ट दिया है।"

"कोई कष्ट नहीं बेटा ! प्रात: गोविन्द जी के मन्दिर में सवा रुपये का प्रसाद चढ़ाकर मुझे शान्ति होगी। आह ! परेश जब तुम्हें पीठ पर लादकर लाया था, तो उसका रंग कैसा हो रहा था !"

विस्मय से अनिल बोला : "परेश मुझे पीठ पर लादकर लाया था ?" माँ बोली : "हाँ, जब तक तुम मूर्च्छित रहे, वह कितना चिन्तातुर रहा। तुम तो उसके प्राण हो बेटा।"

"तुम्हारा बेटा महान् है माँ, मैं अधम उसके स्नेह के योग्य नहीं"—इतने में परेश डाक्टर सहित आ गया। डाक्टर ने घाव की परीक्षा की और चिकित्सा के उपरान्त पट्टी बाँध दी। फीस लेकर चलता हुआ।

जब छ: बज गये तो अनिल आतुर हो उठा : "अब नहीं सहा जाता परेश, नीला चिन्तित हो रही होगी।"

"कहो तो नीला भाबी को फोन कर दूँ"—हँसकर परेश ने कहा।

"अरे ! न, न, परमात्मा के लिये ऐसा न करना, वह घबरा जायेगी।"

"अच्छा तो मैं टाँगा ले आता हूँ।"—परेश फुर्ती से चला गया।

◇ ◇ ◇

उषा सुन्दरी के आगमन में देरी समझ, नभमण्डल में नक्षत्र अभी अपनी रास रचा रहे थे। कहीं-कहीं कोई पक्षी निद्रा त्याग अपनी मधुर वाणी से वातावरण को संगीतमय बना रहा था। उषाकालीन मधुर मंद पवन अपनी मादकता से प्रकृति-सुन्दरी का मनोरंजन कर रहा था।

अपने शयन-कक्ष में नीला मन्टू को वक्ष से चिपटाये सो रही थी।

उसका सिर तकिये पर लटक रहा था। उसकी एक भुजा मन्टू को आलिंगन में जकड़े हुए थी। वह अपनी अमूल्य निधि को सुरक्षित रखना चाहती थी। किवाड़ सब खुले थे। पाँच कैंडल पावर का क्षीण ज्योति विद्युत-दीप माँ-बेटे की रक्षा कर रहा था। उसकी छाया में नीला जैसे मूर्तिमती प्रतीक्षा-श्रान्त होकर विश्राम कर रही थी।

अनिल और परेश ने किवाड़ खुले देखे तो हृदय धक्क से रह गये। इस बुरे समय में, किवाड़ खुले रहना······दोनों दबे पाँव भीतर पहुँचे। अनिल की घबराहट से किवाड़ खड़खड़ा उठा। नीला चौंककर उठ बैठी। नयन झपकते देखा, सिर पर पट्टी बाँधे सामने अनिल खड़ा था, पीछे परेश। दोनों कुछ क्षण मौन, शून्य से एक दूसरे की ओर निहारते रहे। भावों के सागर में ज्वार भीतर ही भीतर मथ रहा था। आतुर स्वर से अनिल ने पुकारा—"नीला ?"

नीला के मन में आया कि अनिल के चरणों में गिरकर प्राण दे दे। चंचल भाव-लहरियाँ उसके मानस को गुदगुदियाँ देने लगीं। परन्तु जब तक वह चरणों में गिरे अनिल ने उसे आलिंगन में ले लिया। धैर्य का बांध टूट गया। नीला फूट-फूटकर रो पड़ी। अनिल के नयन भी भर आये। परेश विस्मित-सा नाटक के अभिनय को देख रहा था। प्रेमासिक्त स्वर में अनिल बोला: "मुझे क्षमा नहीं करोगी नीला। मुझे क्षमा करो।"

नीला मुख से नहीं बोली पर उसके करुण नेत्र कह रहे थे। एक क्षमा नहीं, लाखों क्षमा तुम्हारे चरणों पर न्यौछावर हैं। नयनों की मूक भाषा नयनों ने समझ ली। उन अश्रु-बिन्दुओं ने हृदय का समस्त मल दूर कर दिया। दोनों के मन जब शान्त हुए तो परेश बोला—"भाबी, लो सँभाल लो अपनी धरोहर। अब मुझे उलाहना मत देना। और इस······के उपलक्ष्य में मुँह मीठा तो करवा दो!"

नीला और अनिल दोनों हँस पड़े। परेश के इस कथन में कितनी आत्मीयता थी। तभी मन्टू उठ बैठा। अनिल ने लेने को हाथ बढ़ाया तो रूठने का अभिनय करते हुए बोला : "मैं तुम्हाले पाछ नहीं आऊँगा पापा जी, तुमने माँ को माला है। माँ लात को लो लही थीं।"

परेश हँसा : "हाँ, यह ठीक है। बेटा बाप को ठीक करेगा।"

अनिल ने बलात् मन्टू को उठा उसे चूम लिया। उपवन में फिर बहार आ गई।

अलका

वह नयी अध्यापिका जिस दिन से विद्यालय में आई थी, अपनी सहयोगिनियों को तनिक भी न भायी। इसका कारण उसका निरालापन ही कहा जा सकता था। वह अद्भुत स्वभाव की स्वामिनी थी। साधारण अध्यापिकाओं की भाँति कभी उसने अपने पद-गौरव का ध्यान नहीं रखा और न कभी छात्राओं के सम्मुख अपनी श्रेष्ठता का प्रमाण ही दिया। वह अपने में व्यस्त रहने वाली युवती थी। नाम तो उसका अच्छा ही था 'अलका' और कटितल-शोभिनी उसकी अलकावलि भी उसके नाम को सार्थक करती थी। हाँ, मुखाकृति विशेष सुन्दर न थी। लम्बे मुख पर कुछ-कुछ चपटी नासिका और छोटी-छोटी आँखें। फिर भी वह अच्छी लगती थी, न जाने उसके व्यक्तित्व में क्या मोहिनी शक्ति थी। अल्प काल में ही वह विद्यालय की छात्राओं में प्रिय हो गई थी।

◇ ◇ ◇

हाई स्कूल के छात्रावास के साथ ही विद्यालय की अध्यापिकाओं के लिये कुछ कक्ष सुरक्षित रखे गये थे। उन दिनों उन कक्षों में छः अध्यापिकाएँ थीं, जब कि अलका ने सातवें को अलंकृत किया। अलका अभी बी० टी० करके आई थी। अपने पठन-काल में उसने अपनी विशेष

योग्यता का परिचय दिया था, अतः अपने लिये कार्य ढूंढ़ते समय उसे किसी कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ा। उसे और स्थानों पर भी नौकरी मिल सकती थी; किन्तु यह स्थान सबसे अधिक सुविधाजनक था; क्योंकि यहाँ से उसका कस्बा निकट था और वह हर सप्ताह अपनी माँ, बहिन और भाइयों को देख सकती थी। फिर अध्यापिकाओं के बहिनापे से भी वह प्रभावित हुई। किन्तु थोड़े ही दिनों में यह रहस्य वह समझ गई। सरस्वती देवी जो एक अधेड़ स्त्री थी, उसको विद्यालय की ओर से छात्रावास के विषय में विशेष अधिकार मिले थे। समस्त छात्रावास पर उसका नियन्त्रणाधिकार था। उसका कुटिल और अधिकार-प्रिय स्वभाव अलका को अच्छा न लगा और न अलका की स्वतन्त्र प्रकृति सरस्वती को भायी। प्रथम सप्ताह में ही दोनों के हृदय में मन-मुटाव की एक रेखा-सी खिंच गई। बात नितांत सामान्य थी।

रसोई का कुल काम-काज सन्ती नाम की सेविका करती थी। प्रातः की चाय से लेकर रात्रि के भोजन तक। ठीक ही था, सारा दिन कार्य करने के पश्चात् मस्तिष्क श्रान्त हो जाता था। इतने मस्तिष्क-श्रम के उपरान्त रसोई के कार्य में अपने को जुटाना कोई बुद्धिमानी की बात नहीं। फिर शाम को तनिक स्फूर्ति प्राप्त करने के लिये बैडमिन्टन आदि कोई हल्की खेल खेलना भी शरीर के लिये आवश्यक था। अतः सभी अध्यापिकाओं ने सहयोग से सन्ती को पैंतीस रुपया मासिक वेतन पर नौकर रखा था। और भोजन के विषय में समझाया था कि अच्छा मिले; क्योंकि अच्छा भोजन शरीर को स्वस्थ रखता है। शारीरिक स्वास्थ्य से ही मन एवं मस्तिष्क सबल बनते हैं। उस दिन दाल में नमक अधिक था। सब की कटोरियाँ थाली से बाहर थीं केवल अलका मौन-भाव से खा रही थी। सरस्वती देवी का मुख क्रोध से तमतमा उठा—
"सन्ती!"

यह हुंकार सुनकर सन्ती सहमी-सी आ गई। वह इस स्वर को

पहचानती थी। ऐसे अवसरों पर उसे एक रुपया जुर्माना होता था। आज भी वही निर्णय हुआ। अलका का कौर छूट गया। उसने सन्ती को देखा, विवशता की प्रतिमूर्ति। उसकी एक दिन की मज़दूरी छिन रही थी। उसके बच्चे भूखे रहेंगे। अलका ने सब सहचरियों की ओर देखा, किसीमें बोलने का साहस न था। उसकी दृष्टि पुनः सन्ती की ओर घूमी। वह मूक और निस्तब्ध थी। उसने ठन से एक रुपया मेज़ पर पटका—"लीजिये।"

सरस्वती नागिन की भाँति चौंक उठी और अंगार जैसे नेत्र अलका पर गड़ाये। सन्ती चली गई थी।

"तुमने मेरा अपमान किया है।" अलका वैसे ही शांत रही। विनम्रता से बोली : "जी नहीं; ऐसी धृष्टता मैंने नहीं की।"

सरस्वती की धारणा थी कि अलका कुछ लज्जित हो जायेगी; किन्तु अलका के इस शान्त उत्तर ने जलती में घी का काम दिया। इसमें सरस्वती को स्पर्धा की भावना दीखी। कहा : "मेरे अधिकार में बाधा डालना धृष्टता नहीं तो क्या है?"

"आप रुपया ही चाहती थीं न, मेरी समझ में जिह्वा के स्वाद के लिये किसीके श्रम की कमाई छीनना मानवता के प्रति······" अलका ने देखा, प्रतिहिंसा व क्रोध से सरस्वती के अधर-पुट फड़क रहे थे। वह चौंकी, क्या उसने अनुचित कदम उठाया है? उसने दृष्टि को झुका लिया। सरस्वती क्रोधाभिभूत चली गई। शेष अध्यापिकाओं ने भी उसका अनुसरण किया। केवल अणिमा रह गई। वही थी, जिसने अलका को थोड़ा-सा स्नेह दिया था। अलका उसी भाव नत दृष्टि से बैठी थी। उसने इतना भी न जाना कि अणिमा वहाँ रह गई है। वह चिंतन कर रही थी आज की प्रक्रिया के विषय में। उसे क्षोभ हुआ कि उसने क्यों ऐसी निरर्थक बात की जिससे सरस्वती देवी ने अपनी मान-हानि समझी। किन्तु सन्ती के वे विवश नेत्र! वह धन का मूल्य जानती थी।

एक मध्य वित्त परिवार में उसका जन्म हुआ था। वह दस वर्ष की थी कि पिता उसकी माँ को तीन बच्चों के साथ निस्सहाय अवस्था में छोड़ संसार से कूच कर गये थे। तब माँ ने जिन परिस्थितियों में अलका को पढ़ाया वह अलका की स्मृति में अमिट है। अब भी दो छोटे भाइयों की शिक्षा का उत्तरदायित्व उसीपर है। अतः धन का मूल्य वह अच्छी प्रकार जानती है। तो उसने क्या अनुचित किया। दरिद्र स्त्री को एक रुपया दण्ड, क्या यह मानवता है? सहसा अणिमा ने उसे चौंका दिया—"अब उठो न अलका!" "क्या मैंने बुरा किया बहिन?" अलका ने पूछा।

"नहीं, तुमने उचित ही किया है। आचार्या जी ने सरस्वती को इतना सिर चढ़ा रखा है कि वह अपने अधिकारों का दुरुपयोग करती है। अच्छा है, कान खुल जायेंगे उसके, किन्तु आज आचार्या जी के पास तुम्हारी शिकायत अवश्य जायेगी और कल ही हमें एक नयी चेतावनी मिलेगी।"

"क्या?"

"यही कि अध्यापिकाओं को अनुशासन सीखना चाहिये।"

"कैसा अन्धेर है?"

"हाँ, अन्धेर तो है ही। इसी सरस्वती के कारण पहले भी दो अध्यापिकाओं को काम छोड़ना पड़ा···" अलका के सामने छोटे भाइयों के मुखड़े घूम गये। उनका भविष्य नेत्रों के सम्मुख नाच उठा। यदि नौकरी छूट गई तो···अभी वह उतनी सबल भी तो न थी कि संघर्षों से लड़ सके। पहले पाँव तो अच्छी प्रकार जम लें। वह गई और सरस्वती से क्षमा माँग ली कि भविष्य में भोजनालय के कामों में हस्तक्षेप नहीं करेगी। सरस्वती ने सबको सुनाकर कहा: "पहाड़ से टक्कर लेने पर अपना ही माथा तो फूटेगा।"

◇ ◇ ◇

वास्तव में विद्यालय एक धार्मिक संस्था के अधीन था। उसके अपने

कुछ विधि-विधान थे। शनिवार को सबके लिये अनिवार्य था कि वह उसके अनुसार प्रार्थना में सम्मिलित हों। आज का युग अध्यात्मवाद से भौतिकता की ओर अग्रसर हो रहा है। इसलिये भी यह आवश्यक था कि विद्यालय की छात्राओं में कुछ धार्मिक भावनाओं का समावेश किया जाये। इससे पूर्व अध्यापिकाओं में धर्म-भावना होनी चाहिये; क्योंकि छात्राओं के लिये उन्हें आदर्श रूप होना चाहिये। इसलिये कभी न कभी धर्म की चर्चा चला ही करती और सरस्वती देवी सबको धर्म के विषय में उपदेश देती। सरस्वती देवी ने समझाया कि धर्म ही मानव का संगी है। धर्म मानव की संस्कृति का प्रतीक है, अतः धर्म-भावना होनी ही चाहिये। यदि थोड़ा-सा समय निकालकर हम प्रभु-प्रार्थना न कर सकें तो जीवन किस अर्थ का !

"जी नहीं, मैं आपसे सहमत नहीं, प्रार्थना से पूर्व मनः शुद्धि आवश्यक है" अलका फिर बोल पड़ी।

सरस्वती ने नाक-भौं सिकोड़ी : "क्या तुम प्रार्थना में विश्वास नहीं रखतीं ?"

"रखती हूँ ; किन्तु कर्त्तव्य-पालन के पश्चात्। समस्त जीवन के मिथ्याचारों के पश्चात् दो क्षण की प्रार्थना कोई महत्व नहीं रखती।"

"नास्तिक···" आग्नेय नेत्रों से देखकर सरस्वती बोली : "मैं आज ही आचार्या जी से कहूँगी, ऐसी अध्यापिकाएँ बच्चों पर क्या खाक असर डालेंगी। चलो अणिमा, प्रार्थना का समय हो गया।"—सब सरस्वती के पीछे चल पड़ी। अलका हँस पड़ी यह ढोंग देखकर। उसने हृदय से पूछा, 'क्या सचमुच ही वह नास्तिक है ? वह मानव को भगवान का प्रतिनिधि समझती है। इसी रूप में उसकी पूजा करती है तो वह नास्तिक क्यों ?'

"बहिन जी !"

उसने देखा, विद्यालय के जमादार की बहिन 'पाशी' जो सम्भवतः चौदह-पन्द्रह वर्ष की होगी, झाड़ू थामे उसे पुकार रही थी।

"क्या है री ?"

"बहिन जी ?"

"कह तो, इधर आ।"

पाशी निकट आई, वह लज्जा का अनुभव कर रही थी : "आप क्रोधित तो न होंगी ?"

"नहीं, नहीं", स्नेहासिक्त शब्दों में अलका बोली।

उसने कुरते से एक पत्र निकाला : "इसे पढ़ दीजिये।"

"किसका है ?"

"जी, जी, मेरे पति का।"—पाशी की पलकें झुक गईं, कपोल अरुण हो गये।

"क्या वह पढ़ा है ?"

"जी हाँ, वह आठ जमात पढ़ा है। मुझे कहता है तू भी पढ़ ले तो तनिक चिट्ठी-पत्री........."

अलका हँस पड़ी, पाशी के भाव देखकर। उसने पत्र पढ़कर सुना दिया। पाशी प्रसन्न हो गई। अलका ने पुनः प्रश्न किया : "तो फिर पढ़ेगी।"

"जी, किन्तु पढ़ायेगा कौन ?"

"क्यों, मैं।"

अलका ने देखा पाशी के नेत्र कौतूहल से बड़े-बड़े हो गये। बोली—"आप मुझे पास बिठायेंगी।"

अलका ने कहा : "पगली, इसमें क्या है ? मानव मानव से प्यार न करेगा तो और कौन करेगा ? कल से इसी समय आ जाया कर, अच्छा।"

"जी अच्छा।"—और पाशी दूर जा झाड़ लगाने लगी।

दूसरे दिन प्रार्थना के समय सबने देखा, अलका पाशी को पढ़ा रही थी। सरस्वती जल गई : "मैंने पहले ही कहा था, इसका कोई नियम-धर्म नहीं। न जाने कौन जात है; अब भंगियों को अपने साथ बिठाकर पढ़ायेगी।"

अणिमा बोली : "बहिन जी, भगवान राम ने तो भीलनी के बेर भी खाये थे और अब तो विधान के अनुसार अस्पृश्यता अपराध है।"

"हाँ री हाँ, हम-तुम भगवान हो गये न और कानून बनने से क्या हम धर्म छोड़ देंगे ?"

अलका ने अनसुनी कर दी और वह उसी तन्मयता से पढ़ाती रही। पाशी की शिक्षा में उसे देश का स्वर्णिम भविष्य दीख रहा था, जब उच्च से लेकर नीच तक सभी शिक्षित हो जायेंगे और देश के प्रति कर्त्तव्य समझेंगे। अभी उस दिन इंगलैंड की मेहतरानी के विषय में पढ़ा था कि वह चार बजे समाचार-पत्र पढ़कर फिर कार्य पर जाती है। फिर यह अछूत क्या हमारे जैसे ही मानव नहीं ? अपने को आस्तिक कहने वाला वर्ग क्या भगवान के उस व्यापक रूप को समझ सकता है—

"ईशावास्यमिदम्······"

यह सब जड़-चेतन विश्व ईश्वर द्वारा आच्छादित है। ईश-प्राप्ति के लिये जगत् को ब्रह्ममय देखना कितना आवश्यक है। आज तो हमारी संकीर्ण मनोवृत्तियाँ उसकी असीमता को ससीम बना देना चाहती हैं। अलका की विचार-धारा बन्धन-मुक्त होती जा रही थी। आज उसके नाम पर संसार किधर जा रहा है। कहते हैं, वह अनेक होकर एक है। वह एकत्व कहाँ है, यहाँ है धर्म का केवल वाह्य रूप।

◇ ◇ ◇

चाहती थी। अरिणमा आई और उसे चुप देखकर लौट गई। अलका का सिर जैसे फटा जा रहा था। उस दिन वह किसीसे बोली नहीं। अलका ने उस दिन समझा : 'पराधीन सपने सुख नाहीं', दूसरे के अधीन काम करने से पहले आत्मसम्मान ताक पर रख देना चाहिये।

इसके पश्चात् कुछ दिन शान्ति से व्यतीत हो गये। अलका का कार्य-क्रम निर्द्वन्द्व चल रहा था। वह सरस्वती की किसी बात का विरोध न करती थी। इसी बीच विद्यालय में एक समारोह का आयोजन किया गया। सरस्वती ने अलका से पूछा : "क्यों अलका, चलोगी न?"

सरस्वती अपनी विजय पर मुस्कराई। अलका का हृदय निरुत्साहित-सा था। उसने केवल हाँ कर दी थी। उसका स्वाभिमान जैसे सो गया था क्योंकि बार-बार माँ का करुण मुख और भाइयों की असहाय अवस्था उसे विचलित कर देती थी; किन्तु दुर्भाग्य ने पीछा नहीं छोड़ा था। नियत दिन अरिणमा को ज्वर हो गया। अलका उसे स्नेह करती थी। अरिणमा का सरल मन अलका को सदा सहानुभूति प्रदान करता रहा था। अतः अलका अपनी सेवा द्वारा उसका ऋण चुकाना चाहती थी। अरिणमा भी ज्वर के प्रकोप में बर्रा रही थी। वह एक क्षण भी अलका को छोड़ना नहीं चाहती थी। वह उसी प्रकार छटपटा रही थी जैसे मरुस्थल में प्यासी मृगी। इसलिये जब सरस्वती अलका को बुलाने आई तो वह अरिणमा की सेवा में व्यस्त थी। सरस्वती बोली—"वाह, अभी तुम तैयार नहीं हुई?"

"बहिन जी, अरिणमा बड़ी अशान्त है।"

"दो घन्टे की तो बात है। मैं सन्ती को यहाँ बिठा देती हूँ।" अलका दुविधा में फँस गई। तभी अरिणमा ने ज्वर की बेहोशी में उसका हाथ कसकर पकड़ लिया : "मत जाओ अलका।"

"आज मुझे क्षमा कर दीजिये। यह बड़ी अशान्त है। ज्वर का

प्रकोप बड़ा तीव्र है।" विनीत भाव से अलका बोली, किन्तु सरस्वती असंतुलित हो उठी। क्रोध को पीती हुई वह चली गई। अलका अणिमा के सिर पर पानी की पट्टी रखने लगी। अणिमा ने रक्तिम नेत्र खोले, आह! उन नेत्रों में अलका के प्रति कितनी सद्भावना थी। उस शुष्क वातावरण में अणिमा उसके स्नेहपूर्ण हाथों को ईश्वरीय वरदान समझ रही थी। बोली : "कितनी अच्छी हो तुम।"

"तुम चुपचाप लेटी रहो, ज्वर में अधिक बोलना अच्छा नहीं।"

"नहीं, मुझे कह लेने दो, मन का बोझ हल्का कर लेने दो। इस स्वार्थ के संसार में तुम सचमुच देव कन्या-सी लगती हो।" अलका ने पुनः उसे रोकने का प्रयास किया : "नहीं, मैं केवल मानवी हूँ। मेरे अपने कष्टों ने मुझे मानव से प्यार करना सिखा दिया है बहिन! यह दारिद्रय और हीनता मेरे लिये वरदान सिद्ध हुई है।"

अणिमा ने मस्तक पर रखे उसके हाथ को ज़ोर से दबा दिया। फिर मौन भाव से लेटी रही।

किन्तु बात दूसरे दिन यहीं तक नहीं रुकी। विद्यालय के व्यवस्थापक के पास पहुँची। उन्होंने अलका की बातें सुनीं और उपेक्षा से बोले : "यह उन्मुक्त प्रकृति आज की लड़कियों को ले डूबेगी। अपनी धुन में यह मर्यादाहीन और उच्छृङ्खल हो जाती हैं।"

फिर एकाएक विद्यालय जाकर उन्होंने सब अध्यापिकाओं का आह्वान किया। अबकी अलका निर्भय थी। प्रतिदिन की धमकियों ने उसे सुदृढ़ बना दिया था। अणिमा चाहे अभी दुर्बल थी तो भी वह अलका के संग चली। अणिमा ने कहा : "न्याय का पक्ष लेने वाला भी तो कोई होना चाहिये।"

अलका आज पहले की अलका न थी। सरस्वती ने देखा, उसके रंग-ढंग ही निराले थे। वह जैसे युद्ध के लिये कमर कसकर आई थी।

व्यवस्थापक ने उसे सम्बोधित करते हुए कहा : "आपका नाम ही अलका है ?"

"जी,"—कुछ विनम्रता से अलका ने कहा।

"आपके विरुद्ध कुछ आरोप लगाये गये हैं।"

"जी हाँ, मैं जानती हूँ, किन्तु मैं इसमें अपना कोई दोष नहीं देखती। मानवता की सेवा मानव का प्रथम कर्त्तव्य है।"

"किन्तु विद्यालय के नियम······"

"आप ठीक कहते हैं, परसों की घटना ही लीजिये। अणिमा बहिन ज्वर-ग्रस्त थीं। इन्हें १०४ डिग्री बुखार था। ऐसी अवस्था में इन्हें अकेली छोड़ना कहाँ तक उचित था। आप ही बताइये।" व्यवस्थापक उसकी इस उक्ति से अप्रतिभ हो गये और उन्होंने प्रश्नसूचक दृष्टि से सरस्वती और आचार्या की ओर देखा। दोनों निरुत्तर थीं। आज अलका समस्त रहस्योद्‌घाटन करना चाहती थी। बोली : "मेरा एक आरोप आप तक नहीं पहुँचा; क्योंकि वह व्यक्तिगत था। सरस्वती जी ने दाल में नमक अधिक होने के कारण सन्ती पर एक रुपया दण्ड लगाया। मेरी समझ में यह अमानवीय था। मैंने एक रुपया अपनी जेब से दे दिया, इसे इन्होंने अपना अपमान समझा। मैं नहीं जानती इसमें मेरा दोष क्या है ?"

व्यवस्थापक साहब ने आश्चर्य से नेत्र फाड़कर सरस्वती की ओर देखा, वह होंठ काट रही थी। उसका रंग सर्वथा बदल गया था। व्यवस्थापक अचकचाये कि क्या निर्णय करें। बोले : "दोनों पक्षों के आरोप बड़े दृढ़ तथा विचारणीय हैं, अतः अभी कोई निर्णय नहीं हो सकता।" व्यवस्थापक के जाने पर अलका ने उछलकर अणिमा को गले से लगा लिया। सरस्वती जल-भुनकर खाक हो गई।

दूसरे दिन ही सरस्वती ने आचार्या जी को लिखित चेतावनी दे दी कि विद्यालय में या अलका रहेगी या वह। परिणामस्वरूप विद्यालय

के अधिकारियों के सम्मुख एक अड़चन उपस्थित हो गई। कुछ दिन वे निर्णय न कर सके कि क्या करें। सरस्वती छात्रावास में अनुशासन रखने में दक्ष है और अलका ने अपने प्रेम-स्निग्ध भाव से छात्राओं पर सम्मोहन-सा डाल दिया था। छात्राएँ उसे प्यार करने लगी थीं। फिर उसका अध्यापन ढंग बड़ा सुन्दर था। तो भी विजय सरस्वती को ही मिली। अलका को दस दिन के भीतर विद्यालय छोड़ने की आज्ञा मिली। अलका ने उपेक्षा से हँसकर कहा : "जहाँ मेरी भावनाओं की हत्या हो, मैं एक पल भी ठहरने को तैयार नहीं" और वह उसी समय अपना सामान समेटने लगी। आचार्या जी को सूचना दे दी गई। सरस्वती विजय-गर्व से मटकती इधर-उधर चक्कर लगा रही थी। अणिमा का मन भरा था; किन्तु अलका के सम्मुख दुर्बलता नहीं दिखाना चाहती थीं। सामान मजदूर के हाथ भेजकर अलका अणिमा के पास आई, "अच्छा बहिन, चलूं! अपराध क्षमा करना।" अणिमा ने स्नेहातिरेक से उसका हाथ दबा दिया और अश्रुपूर्ण पलकें नत कर लीं। रुँधे कंठ से बोली : "भूलना मत।" भावावेश को दबाकर अलका ने कहा : "कभी नहीं।" अलका चली गई। दूर से उसने रूमाल हिलाकर अणिमा को अन्तिम विदा कही तो अणिमा फूट-फूटकर रो पड़ी।

इसके पश्चात् विद्यालय के अधिकारियों ने सरस्वती को चेतावनी दी कि यदि उसने भविष्य में किसी अध्यापिका के साथ ऐसा बर्ताव किया तो वह विद्यालय के प्रति उत्तरदायी होगी। क्योंकि अलका जैसी अध्यापिका का जाना उन्हें भी बुरा लगा।

सरस्वती ने अब समझा कि अलका जाते-जाते भी वार कर गई। उसके विजयगर्वित मुख पर कालिमा-सी पुत गई।

सन्देह

मध्याह्न के भोजन के उपरान्त सुधीन्द्र, वक्ष पर 'कामायनी' टिकाये, कुछ सुस्ताने का प्रयास कर रहा था। कामायनी के सौंदर्य पर वह मुग्ध था। मानवी भावनाओं के सुन्दर चित्र कवि ने कविता की तूलिका द्वारा काव्य-पट पर अङ्कित कर दिये थे। वसन्त रजनी जैसे अपने शुभ्र शृंगार से संसृति में मादकता का प्रसार करती है, वैसे ही यह कविता-सुन्दरी कवि की भाव-लहरियों को उद्वेलित करती उसकी वाणी को मुखरित कर देती है। मानव का शब्द-भंडार जैसे स्वयं खुल पड़ता है। तब···। वह अभी अपनी विचार-शृङ्खला में उलझा ही हुआ था कि उसकी पत्नी उर्मिला ने उसे चौंका दिया। मुख कुछ विक्षिप्त, नेत्रों में झलक रहे कुछ जल-बिन्दु। सुधीन्द्र ने पूछा : "क्या है?"

"साड़ी नहीं मिल रही"—उर्मिला ने कहा।

"कौन-सी?"

"जो कल आप लाये थे, मद्रास सिल्क की।"

सुधीन्द्र उपेक्षा से बोला : "अरे मिल जायेगी। जायेगी कहाँ? मुझे पुस्तक पढ़ने दो।"

"नहीं, सारा घर ढूँढ़ मारा। क्या सूई है जो दीखती नहीं?"

खीझकर सुधीन्द्र ने कहा : "देखो तंग न करो, तुम यों ही भुलक्कड़ हो। दिन में सौ बार तो चाबियाँ ढूँढ़ती हो।" सुधीन्द्र नहीं उठा तो उर्मिला खीझकर चली गई, क्रोध की कुछ रेखाएँ उसकी मुख-मुद्रा को विकृत कर रही थीं। नहीं, उसकी स्मृति ऐसी कच्ची नहीं। अवश्य बुधिया ले गई है। कल आँखें फाड़-फाड़कर देख रही थी।

बुधिया उनकी कहारिन थी। चौका-बर्तन सब वही करती थी। कल साड़ी देखी तो पूछ बैठी : "कै दाम की है बाई जी ?"

गर्व से उर्मिला ने कहा : "सौ रुपये की।"

दस रुपये महावार पाने वाली बुधिया ने साड़ी को देखा और फिर अपने कार्य में व्यस्त हो गई। उर्मिला को उस पर सन्देह ही नहीं, विश्वास है, उसीने उठाई होगी। आने दो तनिक पूछ लेगी चुडैल से; जिस पत्तल में खायेगी, उसीमें छेद करेगी। घोर कलियुग है। विश्वास करने का जमाना कहाँ ?

सुधीन्द्र ने समझाया : "बुधिया डेढ़ साल से काम कर रही है। कभी भी ऐसा अवसर नहीं आया। सारा घर खुला पड़ा रहता, पाई तक की वस्तु नहीं गई।" "किन्तु बाहर से आया भी तो कोई नहीं उसके अतिरिक्त। अवश्य उसीने ली है।" बुधिया आई तो उर्मिला बरस पड़ी : "क्यों री, जिसका खायेगी उसीसे विश्वासघात !" बुधिया आश्चर्य-चकित हो बोली—"क्या अपराध हो गया बाई जी ?"

"सीधी तरह साड़ी लाकर दे, नहीं पुलिस में दे दूँगी।"

बुधिया जैसे आकाश से गिरी : "कौन-सी साड़ी बाई जी ?"

"वही जिसके दाम कल पूछ रही थी; प्रलोभन ने हृदय काला कर दिया होगा।"

बुधिया विस्फारित नयनों से कुछ क्षण देखती रही। उसके हृदय में द्वन्द्व चल रहा था। फिर एकाएक रो पड़ी : "मुझे पुत्र की सौगन्ध है बाई जी, जो मैंने साड़ी को फूटी आँख भी देखा हो। मेरी आँखें

फूट जायें ।"—और वह और जोर-जोर से रोने लगी ।

"मैं यह सब नहीं जानती, तेरे अतिरिक्त यहाँ कोई नहीं आया । रोने से सच्ची न हो जायेगी ।"

"डेढ़ वर्ष से काम कर रही हूँ मालकिन, कभी किसी वस्तु को बुरी आँखों नहीं देखा । हम गरीबों को साड़ियों से क्या ? सौ की हो चाहे दो सौ की ।"

"तेरे जैसी बहुत देखी हैं बातें बनाने वाली, चाहूँ तो तेरा घर खुदवा डालूँ । सच बता साड़ी देगी या नहीं ?"

"आप स्वामी हैं, जो चाहें करें । साड़ी मेरे पास नहीं है ।"—बुधिया आँचल से नेत्र पोंछती हुई बोली ।

सुधीन्द्र किंकर्तव्य-विमूढ़-सा देख रहा था । बात झंझट की है । उर्मिला की साड़ी नहीं मिलती और बुधिया के अतिरिक्त कोई आया भी नहीं । किन्तु बुधिया का रुदन देख बोला : "छोड़ो भी उर्मि, साड़ी और आ जायेगी ।"

किन्तु उर्मि की तीव्रता अभी कम न हुई थी : "वाह ! छोड़ दूँ ! सुन लो बुधिया । साड़ी दो या दस रुपये मास का वेतन कटवाओ । समझी ? लातों के भूत बातों से नहीं मानते ।"

बुधिया अश्रुओं की गंगा-यमुना बहाते काम करती रही । मौन भाव से, बोलने का अधिकार उसे न था । स्वामिनी के अभियोग का प्रतिरोध करने की शक्ति उसमें न थी ।

दूसरे दिन नई साड़ी आ गई । सुधीन्द्र को अखरा तो बहुत किन्तु उर्मि के पहले भाई का विवाह था, यह दिन नित्य तो आते नहीं । नई साड़ी न पहनना उर्मि की सरासर हेठी है । छोटी बहिनें जब दीदी का बक्स देखेंगी फिर कोई नवीन साड़ी न हो तो कैसा अपमान है । फिर ऐसी बहुमूल्य साड़ियाँ क्या नित्य बनती है । इस महँगाई के युग में भोजन का व्यय भी कठिन पड़ता है । तीन बच्चे हैं, पढ़ते हैं, उनके

कपड़े, पुस्तकें, कई खर्च तो हैं। कभी हुआ कोई सूती धोती मिल गई। पति के गाढ़े पसीने की कमाई के सौ रुपये व्यर्थ गये। खोई हुई साड़ी के लिये उसका मन कई दिन मसोसता रहा।

सुधीन्द्र ने स्पष्ट कह दिया कि तनिक हाथ तंग रहेगा। ध्यान से खर्च-वर्च करना। उर्मिला क्या बोले, साड़ी भी आवश्यक थी और खर्च भी। ऋण लेने का जमाना कहाँ। उर्मिला शान्त मन से कार्य चलाने लगी।

◇ ◇ ◇

मकान के पिछवाड़े बच्चों की गुप्त सभा हो रही थी। तीन बच्चे तो सुधीन्द्र के हैं। वीणा, विजय और विनय। एक वीणा की सखी रेखा और तीन विजय के मित्र नरेस, सुरेश और रमेश। देखिये तो कैसे प्रफुल्लित हो भविष्य का कार्य-क्रम बना रहे थे। जैसे राष्ट्र की कोई गम्भीर समस्या उनके सम्मुख हो। समस्या यह थी कि कोई नाटक खेला जाये किन्तु कौन-सा, इस पर विचार-विमर्श हो रहा था। कुछ का विचार 'राम-राज्य' खेलने का था, कुछ का 'वीर अभिमन्यु' और कुछ का 'राणा-प्रताप'। अन्तिम विजय राम-राज्य की हुई। अभिनेताओं का चुनाव हुआ। नरेश 'राम', सुरेश 'लक्ष्मण', विनय 'लव' और रमेश 'कुश'। वीणा बनी सीता। वाल्मीकि की आवश्यकता पड़ी तो निश्चय हुआ कि सुरेश के मित्र को भी नाटक-मण्डली में सम्मिलित कर लिया जाये। विजय क्योंकि सबसे बड़ा और अनुभवी था, अतः दिग्दर्शन का भार उसे सौंपा गया। उर्मिला ने भीतर से पुकारा तो सब चौंके। मृग-शावकों से कुलांच भरते सब नौ-दो ग्यारह हो गये। उर्मिला बाहर आई तो वीणा के अतिरिक्त और कोई न था।

"क्या कर रही है यह चंडाल-चौकड़ी ?'—उर्मिला ने वीणा से पूछा। विनय ने किवाड़ की ओट में वीणा को संकेत किया। बड़े-बड़े नयन नचाकर वीणा बोली, "कुछ नहीं", किन्तु उर्मिला ने देखा वीणा

कनखियों से किवाड़ की ओर देख रही है। विनय का मुख झाँकता देख बोली : "ओह विनय बाबू हैं, तुम बताओ राजा बेटा झूठ नहीं बोलते।"

चंचल भाव-भंगिमा से विनय मुस्करा कर बोला : "अभी नहीं माँ सब आनन्द किरकिरा हो जायेगा।"

अब विजय भी माँ के पीछे चहल-कदमी कर रहा था। माँ ने प्रश्न-सूचक दृष्टि से उसकी ओर देखा। तब तक विजय भैया कूदकर कमरे में पहुँच पढ़ने का अभिनय कर रहे थे।

"पिता जी ?"

"पिता जी ?"

"पिता जी ?"

विजय, विनय और वीणा ने क्रमशः पिता को पकड़ लिया।

सुधीन्द्र हँसकर बोला : "अरे पागल हो गये हो क्या ? कुछ कहो भी ?"

"आज सन्ध्या को बाहर मत जाइयेगा पिता जी।"

"क्यों ?"

"हम लोग नाटक करेंगे पिता जी ?"

"नाटक ?" आश्चर्य से सुधीन्द्र ने पूछा।

"हाँ पिता जी, बड़ा सुन्दर नाटक, देखिये नरेश भय्या बने हैं राम।"

"जा-जा भाग, चुप नहीं रह सकती तुम !" विजय ने वीणा की पीठ को चपतियाया।

सुधीन्द्र बच्चों की खिलवाड़ से बड़ा प्रसन्न हो रहा था। उर्मिला भी आ पहुँची : "यह सब क्या तंग कर रहे हैं तुम्हें ?"

"तुम्हारे बच्चे नाटक खेलेंगे आज ?"

"खूब होगा इनका नाटक, भाँड़ का तमाशा होगा।" खिलखिलाकर उर्मिला बोली।

विजय भला अपनी पराजय कैसे सहता। बोला : "आपने देखा कहाँ है, देखने के पश्चात् कहिये। चलो जी सुरेश, अपनी तैयारी करें।"

और सब बच्चे पक्षियों-से चहकते भाग गये। कितना आह्लाद था अल्हड़पन की उन प्रतिमाओं में। न चिन्ता न व्यथा, न छल न कपट। उत्तरदायित्व, पर कैसा निर्द्वन्द्व, भावी जीवन के लिये वे रंगमंच निर्माण कर रहे थे। सब बच्चे यों काम में लगे थे जैसे बारात आ गई हो। झाड़-बुहारकर एक बिस्तर की दरी बिछा दी गई। फिर धोबी के मैले वस्त्रों में से एक धोती निकाल रंगमंच का पहला पर्दा लगा। फिर यवनिका की समस्या? उसके बिना तो रंगमंच ही अधूरा रहेगा। सब सोचने लगे उपाय। एकाएक चहककर विजय बोला : "अरे विनय! मिल गया साधन।"

"क्या?"—उत्सुकता से विनय ने पूछा।

"वह, माता जी व पिता जी के पलंगपोश हैं न एक जैसे। वही ठीक रहेंगे। ले तो आ वीणा भागकर। किन्तु देख, किसीको कानोंकान खबर न हो। नहीं तो···।"

"नहीं-नहीं भय्या निश्चिन्त रहो।"—और वीणा भाग गई।

सुरेश भागकर अपनी छोटी मेज़ ले आया। छोटे गिलास में कुछ फूल सजाकर रख दिये गये। विजय देखता था और स्वीकृतिसूचक सिर हिला देता था।

"देखना सुरेश, कितने बजे हैं? ठीक पाँच बजे हमें नाटक आरम्भ कर देना है।"

"अरे चार बज गये, लो वीणा ले आई पर्दे, लगाना तनिक फुर्ती से। अरे हाँ, अब चुटकी बजाते तैयार हो जाओ। ओह वीणा, तू किसकी साड़ी ले आई, बड़ी कीमती है, माँ के बक्स से तो नहीं लाई?"

"नहीं भय्या, वही जो फालतू बिस्तरे रक्खे हैं न, जहाँ से दरी निकली है, उन्हीके नीचे पड़ी थी। देखो तो कैसी सिलवटें पड़ी हैं।"

नाटक आरम्भ होने में अधिक विलम्ब न था। दो घन्टियाँ बज चुकी थीं। दर्शकगण कौतूहल और उत्सुकता से रंगमंच की ओर निहार

रहे थे। किन्तु ज्यों ही यवनिका उठी उर्मिला के आश्चर्य की पराकाष्ठा हो गई। वीणा वही साड़ी पहने सीता का अभिनय कर रही थी। आध घन्टे में नाटक समाप्त हो गया। अभिनेताओं के अभिनय की आलोचना हो रही थी। दर्शक प्रसन्न थे। उर्मिला का मन कहीं और विचर रहा था। व्यर्थ ही बुधिया का मन दुखाया उसने। क्या दण्ड मिलेगा उसे? क्या प्रायश्चित्त होगा उसका? पश्चात्ताप की अग्नि में उसकी सन्देह-कालिमा सर्वथा लुप्त हो गई। उसका मन बुधिया से एक बार क्षमा-याचना के लिये लालायित हो उठा। बुधिया केवल एक कहारिन मात्र है। यह उसे भूल गया। इतने में वीणा ने उसे झकझोर कर बुलाया: "माँ।"

"क्या है?"

"माँ मैं सीता सुन्दर लग रही थी?"

हृदय से लगाकर उर्मि बोली: "बहुत सुन्दर, किन्तु यह साड़ी तुझे कहाँ मिली?"

"सामान के कमरे में बिस्तर के नीचे।"

उर्मिला आगे बढ़ी तो किवाड़ से सटी बुधिया, मौन भाव से नाटक देख रही थी। मालकिन से आदर को खोकर वह खिन्न मना थी। उर्मिला उसकी ओर देख मुस्कराई। न जाने कितने दिनों बाद बुधिया को मालकिन की ऐसी मुस्कान व प्रसन्न मुख-मुद्रा देखने को मिली। वह आश्चर्य चकित इस परिवर्तन को समझने का प्रयास कर रही थी। उर्मिला वेग से भीतर गई और दस का नोट लाकर बुधिया के हाथ में थमा दिया: "यह ले अपने गत मास का वेतन।"—बुधिया ने उर्मिला के चरणों को छू लिया। सुधीन्द्र मुस्करा रहा था। सन्देह के मेघ बिखर चुके थे।

संघर्ष और शांति

"माँ ! ओ माँ ! सुनो तो"—सरला को झकझोरते हुए सुमन ने पुकारा। प्रत्युत्तर में सरला ने केवल सिर हिला दिया। माँ की यह तटस्थता सप्त वर्षीया सुमन को अच्छी न लगी। वह माँ के गले से लिपट गई। सूई छीनकर आग्रह से बोली : "माँ !" सरला ने विवशता प्रदर्शित करते हुए सूई छोड़कर पलकों को ऊपर उठाया। लम्बी घनी पलकों के आवरण-मध्य दो विशाल नेत्र निराशा की कितनी कालिमा बिखेर रहे थे। उन पुतलियों में विश्व भर का अन्धकार सिमटकर आ बैठा था। गढ़ों में धँसे हुए व काली झाइयों से घिरे वे नयन किसी दिन कवियों के वर्णन का आधार रहे होंगे। काव्य की भाषा में उन्हें कमल-नयनी, मृग-नयनी-सी सुन्दर उपमाओं ने अवश्य ही सुशोभित किया होगा। सुमन की नन्ही कोमल हथेलियों से गले को छुड़ाती हुई, वात्सल्य भाव से बोली : "क्या है बिटिया ?"—स्नेह का मधुर प्रोत्साहन पाकर बालिका मचल उठी। रूठने का अभिनय कर बोली : "तुम तो सुनती नहीं माँ, कई दिन से कह रही हूँ। रविवार को विद्यालय का उत्सव है। बहिन जी ने कहा है, जिसके पास श्वेत वस्त्र न हों वे उत्सव में न आये।" बालिका एक ही

साँस में यह लम्बी-चौड़ी बात कह गई। उपहास के स्वर में सरला बोली : "तो मत जाना।"

बालिका रुआँसी हो गई। नन्ही-सी सुन्दर आँखों में जलकण छलक उठे : "और हमें कविता जो सुनानी है। मेरे साथ की सब लड़कियों के वस्त्र बन गये, मेरे नहीं बने माँ ?"—माँ ने बच्ची का मुर्झाया मुख देखा। वक्ष से लगाकर कहा : "कल बाज़ार जाऊँगी बिटिया।" आश्वासन पाकर बालिका पुलकित हो खेलने चली गई। सरला पुनः उसी भाव से सूई चलाने लगी।

दालान में पर्याप्त अन्धकार था। छत में लगे लोहे के जंगले से छनकर आती सूर्य-रश्मियाँ धूमिल हो चली थीं। साँझ का धूमिल आलोक सन्ध्या के आगमन का सन्देश दे रहा था। सरला के नेत्रों ने सूई छोड़ने को विवश किया। उसने एक दीर्घ अँगड़ाई लेकर ओढ़नी को उठाकर एक ओर कर दिया। एक शीतल निश्वास उसके अन्तस्तल से निकल निस्तब्धता में विलीन हो गया। चटाई समेट दी उसने। अभी भोजन का उपक्रम भी तो करना है। बच्चे खेलकर आयेंगे तो क्या खायेंगे। उन्हें सरला के अभाव के संसार से कोई प्रयोजन नहीं। वह चूल्हे में आग फूंकने लगी।

भावनाओं के साथ नृत्य करती उसकी स्मृति-लहरियाँ पहुँच गईं जीवन के स्वर्णिम अतीत पर, जब उसका संसार सुखी था। पर अतीत के अतुल गर्भ में वह सब स्वप्न की भाँति विलीन हो चुका था। साक्षात इन्द्र-से समृद्धिशाली पति और प्रत्यक्ष शची सी सौंदर्य-प्रतिमा सरला। सास-ससुर के लिये सरला गृहलक्ष्मी थी। पड़ोस वाले उसके सौभाग्य से ईर्ष्या करते। उसपर दो शिशु-प्रसून भी उस वाटिका में विकसित हो रहे थे। एक पुत्र, एक पुत्री और चाहिये भी क्या ? अभाव का चिह्न भी उस संसार में न था। सुखों के पालने में वह परिवार भूल रहा था। वैभव की परियाँ समृद्धि के अक्षरों से उनके भावी जीवन का कार्य-क्रम

भविष्य के पन्नों पर लिखतीं और मुस्करा उठतीं।

किन्तु वाह रे क्रूर काल! तेरी एक कठोर प्रतारणा मानव के जीवन को उलटने को पर्याप्त है। हँसतों को रुलाना तेरा एक इंगित मात्र है। चुटकी बजाते ही तू प्रकाश को अन्धकार, आशा को निराशा में परिवर्तित कर देता है। पति महोदय फर्म में बैठे कागज़ देख रहे थे कि एकाएक काल का निमन्त्रण आ पहुँचा। लेखनी हाथ में ही रही और सिर लटक गया। थोड़ी देर पहले अनुचर से पानी का गिलास माँगा था। डाक्टर दौड़े आये। एक पल में क्या हो गया। नाड़ी देखी तो सिर हिला दिया। हृदय की गति बन्द थी।

घर में समाचार पहुँचा। कोहराम मच गया। सरला को विश्वास नहीं हुआ। हाय! क्या इतने अकस्मात् उसका स्वर्णिम संसार पानी के बुदबुदे की भाँति क्षणभंगुर हो जायेगा? किन्तु होनहार हो चुका था। पक्षी उड चुका था। नीड़ रह गया था प्राणहीन, स्पन्दनरहित। उसका मादकता-प्रसून काल के एक झोंके से शून्य के किसी अज्ञात गर्त में डूब चुका था। जिस स्वामी को वह प्राणधन समझती थी कैसे उनके बिना जीवित रहेगी। तो चल सरला तू भी उसी प्रदेश में, जहाँ तेरे प्रियतम गये। फूल के पीछे उसकी महक भी उड़ जाये। फिर उन नन्हे निरीह शिशुओं का क्या होगा, किसके सहारे वे रहेंगे—वे कोमल प्रसून, जिनका कोई आधार नहीं। मातृ-पितृहीन बालक, वे किसके सम्मुख दाने-दाने को मोहताज होंगे। नहीं, उसे रहना है। इन नन्हें दीपों की लौ जलाये रखने के लिये उसे दीप-शिखा की भाँति निरन्तर जलना है। सरला सोचती रही।

किन्तु वाह रे समाज! कुछ दिन पूर्व लक्ष्मी कहलाने वाली वह कुलच्छनी पतिघातिन और डायन हो गई। सास फूटी आँखों भी उसे देखना नहीं चाहती। बेटा न रहा तो बहु से क्या? खून के घूंट पीती वह घर का काम करती। जेठानी की कटूक्तियाँ सुनती और देवरानी

की तो पूछिये न। सिनेमा जा रही हैं रानी साहिबा, सास का राम-नाम जपने का समय है, और जेठानी का घूमने का समय किन्तु सरला के लिये अब कोई मनोरंजन नहीं, कोई सैर-सपाटा नहीं। विधवा के लिये यह सब आवश्यक नहीं। सरला दो दिन से बीमार थी। उफ़, मुई पीड़ा। उसने नहीं सोचा कि उस विधवा से क्या? घर का सारा काम उसके लिये है। तीसरे दिन उठा नहीं गया उससे, शायद ज्वर भी था। राम-नाम की माला जपते सास ने पुकारा : "सरला! आग जला दे।"—किंतु सरला उठी नहीं। जी है तो जहान है। क्या वह इन सबकी नौकर है? सास ने देखा सरला नहीं उठी। खाना कैसे समय पर बनेगा। सरला चारपाई पर औंधे मुँह पड़ी थी। बोली : "ओहो, बड़ा नखरा है रानी का। उठ आग जला। ऐसे फूटे भाग्य लेकर आई क्यों तू मेरे घर?" सरला के मन में आया कहे, माता जी सिर नहीं उठता तो क्या करूँ। किंतु सास की वह विकराल मूर्ति! वह लड़खड़ाती उठी। द्वार तक भी न पहुँची थी कि धड़ाम से गिरी, दीवार का कोना सिर में धँस गया। सिर पकड़कर बैठ गई तो भी उस मानवी रूप धारिणी सास को दया न आई। बड़बड़ाती हुई बोली : "सब पाखंड है। इस प्रकार नहीं चलने की इस घर में। तेरे जैसी घर-घर भीख माँगती हैं। यह तो मुझे कहो, जो मैं घर में रखे हूँ।"

सरला सिर पर हाथ रखे रक्त रोकने का प्रयास कर रही थी। यह कांड अभी समाप्त न हुआ था कि देवरानी कमल के पीछे भागती आ गई—"दुष्ट, नालायक, लगा तो उसे हाथ, तेरे हाथ न तोड़ डालूँ। तेरा यह साहस"—और सरला जब तक कुछ कहे देवरानी ने दो थप्पड़ कमल के जड़ दिये। बच्चा चीत्कार कर उठा। सरला अपने आघात को भूल बच्चे के सामने आ गई। देवरानी कह रही थी : "आने दे चचा को···।" जैसे यह दण्ड बच्चे के लिये कम था। सरला की रुलाई फूट पड़ी। बच्चे को आँचल में छुपा वह रो उठी। तभी सुनाई पड़े सास के

यह तीक्ष्ण शब्द : "रोना है तो उधर होके रो कलमुँही। भरे घर में अपशकुन करती है।"···सरला अपनी कोठरी में आ गई। जी भरकर रोई वह उस दिन। हृदय का उफान जैसे अश्रु बनकर बह रहा था।

यह बखेड़ा एक दिन का न था, नित्य ही यह सब होता रहता, तो भी अब असह्य था। सरला की सहन-शक्ति धीरे-धीरे समाप्त होती जा रही थी। प्रतिशोध में उठती है एक दारुण ज्वाला उस समाज के प्रति जो अपने को प्रत्येक का ठेकेदार समझता है। उस मानब के प्रति जो मानवता का दम भरता है। समय का चक्र शनैः शनैः आगे बढ़ता गया। सरला के हृदय में वैसी दुर्बलता न रही। भावों का एक ऐसा ज्वालामुखी उसके मानस में पनप रहा था जो किसी दिन भी फट पड़ने को तैयार था। एक दिन उसने देखा, जेठानी का लड़का जब पराँठे खा रहा था तो कमल को सास ने दो बासी रोटियाँ दीं। बच्चे इस कठोरता को सहने के आदी हो-गये थे। कमल ने आधी रोटी फेंकते हुए कहा : "अब नहीं चबाई जाती माँ!"···और विद्यालय भाग गया। सास ने व्यंग्य से कहा : "वाह रे लाट साहब!" सरला ने विरोध किया तो पुनः पतिघातिन की उपाधि पाई। अब अश्रु भी बह-बहकर समाप्त हो चुके थे। कोई नहीं समझा उसकी व्यथा को! संसार किसका उजड़ा? उसका। फिर भी यह अपमान, हे भगवान! नारी की यह कैसी दयनीय स्थिति है। तब क्या यह जीवन रो-रोकर ही बिताना पड़ेगा? अब जब भी वह रोती तो कमल पूछता—"तुम क्यों रोती हो माँ?" निरीह बच्चे को सहमा हृदय देख वह कहती : "नहीं रोऊँगी मेरे लाल।" उस दिन उसने निश्चय किया कि वह कभी नहीं रोयेगी। समाज के दिये अभिशाप को वह धारण करेगी। उसने समझ लिया था कि यह संसार रोने के लिये नहीं संघर्ष के लिये है। वह किसी पर आश्रित क्यों रहे। भगवान ने दो हाथ क्यों बनाये? क्या वह दो बच्चों के लिये न जुटा सकेगी? यों घुट-घुटकर जीना कब तक? किन्तु मर्यादा और प्रतिष्ठा का प्रश्न। जब वह और उसके बच्चे

तड़प रहे हैं, तो कैसी मर्यादा ? कैसी प्रतिष्ठा ? यह मिथ्याडम्बर है। तोड़ दो सरला इन रूढ़ि-शृंखलाओं को, छिन्न-भिन्न कर दो। उन्मुक्त वातावरण में खुलकर साँस लो। समाज क्या कहेगा ? जो समाज तीन प्राणियों का उत्तरदायित्व नहीं लेता उसकी चिन्ता क्या ? जिसमें निर-वलम्ब को अवलम्ब देने की सामर्थ्य नहीं उसे परिवर्तित कर दो। चली जाओ उसके बन्धन से बाहर। फूंक दो एक नव चेतना।

कमल द्वारा उसने ससुर को कहलाया। शहर का पुराना मकान उसे रहने को दे दिया जाये। वह परिवार में रहना नहीं चाहती। ससुर ने कहा: "संसार हमें क्या कहेगा ? विधवा बहू को घर से निकाल दिया।"

नाक-भौं सिकोड़कर सास ने कहा: "जहाँ जी चाहे रहे, निर्लज्जता की सीमा होती है।"

किवाड़-पीछे सरला सुन रही थी, किन्तु लज्जा का भार कब तक ढोयेगी। वह हठ पर अड़ी रही। देवरानी-जेठानी ने सोचा, बला टली। जेठ ने कहा: "चलो भोजन के पचास रुपये बचे।"

ससुर ने सहायतार्थ बीस-पच्चीस मासिक देने चाहे तो सरला ने यह भी स्वीकार नहीं किया। दानवृत्ति लेने की उसे इच्छा नहीं थी। सरला नवीन गृह में आ गई। वहाँ कुछ निम्न वर्गीय लोग रहते थे। उनमें से कुछ कभी-कभी सरला के यहाँ काम पर जाया करते थे। सरला को अपने मध्य पाकर वे स्तम्भित रह गये। घर क्या था ? नरक का एक प्रकोष्ठ। अन्धकार और सीलन का वहाँ निर्द्वन्द्व साम्राज्य था। सरला के नेत्र घर को देखकर भर आये। पड़ोस की एक वृद्धा ने पूछा: "तुम यहाँ रहोगी बहू ?"

"तुम लोग यहाँ रहती हो तो मुझे क्या है चाची ?"

"हमारी-तुम्हारी क्या बराबरी बहुरानी ? तुम लोग ठहरे बड़े मनुष्य।"

"बड़ों का प्रेम-भाव देख आई चाची, कौन किसका है ?"

चाची को अतीत स्मरण हो आया। सरला घर सँवारने लगी। चाची की लड़की तारा से सरला का बहनापा हो गया। अभाव में भी वे लोग कितने प्रसन्न थे। और कितने सरल। चाची सरला को सीने-पिरोने का काम ला देती। चाची ने स्पष्ट कह दिया: "तुम निश्चिन्त रहो बहू, मैं सब कर दूँगी। तारा के लिये काम लाती हूँ तो तुम्हारे लिये लाते पिस न जाऊँगी।"

सरला ने उस सद्भावना का अनुभव किया। वैभव के संसार में जहाँ लोभ के चश्मे से देखा जाता है, वह सहानुभूति कहाँ ? कभी जाली की ओढ़निया, कभी रूमाल और कभी स्वेटर बनाने को उसे मिल जाते थे। और भी रुपये एकत्रित कर वह एक मशीन लेना चाहती थी।

यह विचार-शृंखलाएँ न जाने कब तक उसे व्यस्त रखती कि चूल्हे पर उबल रही दाल ने उसे चेतावनी दे दी। वह सजग हो झाग उतारने लगी। घूमकर देखा अन्धकार अपनी काली नक्षत्रों की जड़ी-चूनरी से रजनी बाला के शृंगार का प्रयास कर रहा था। बच्चे अभी लौटे नहीं थे। द्वार पर खड़े हो उसने पुकारा : "कमल ! ओ सुमन !" सुमन पड़ोस के घर में बैठी गुड़िया के विवाह की मन्त्रणा कर रही थी। माँ को पुकारते सुन भाग आई।

"क्या है माँ ?"

"रात हो आई, तू वहाँ क्या कर रही है ?"

"माँ ! हम लोग गुड़िया के ब्याह की सोच रहे थे।"

बालिका के मुख पर आह्लाद नृत्य कर रहा था। सरला मुस्कराई। बाल्यावस्था में ही लड़कियाँ घर के झंझट सजाने लगती हैं। किन्तु कितना अन्तर है तब में और अब में। यह सब खिलवाड़ है अभी उत्तरदायित्व।

अल्हड़पन में यह सब बातें कैसी अच्छी लगती हैं। ब्रह्मा भी मानव-सृष्टि की रचना कर ऐसे प्रसन्न न हुए होंगे। बोली : "कैसे बच्चे हो तुम, खेल में घर भी भूल जाते हो। कमल भी अभी नहीं लौटा।"···"मैं आ गया माँ।"···पीछे से कमल बोला। माँ ने हर्ष के स्थान पर पुत्र के मुख पर अवसाद की रेखा देखी। वात्सल्य से पूछा : "क्या है कमल ? खिन्न क्यों हो ?'

'माँ के अंचल में मुख छिपाकर कमल रो पड़ा···"क्या है रे ?" बताता क्यों नहीं।"···विचलित होकर सरला ने पूछा।

"गणित की पुस्तक नहीं है माँ। मास्टर जी क्रोधित होंगे।"

"वाह ! इसमें रोने की क्या बात है पगले ? होनहार बालक कहीं रोते हैं। हँस दो तनिक", वह हँसा—"ही, ही, ही।"

बालक खिलखिलाकर हँस पड़ा और सरला दोनों को उंगली पकड़ खींच ले चली। यह क्षण कितने सुख के थे।

"माँ रोटी।"

"माँ रोटी।"

"अरे ! उतावले क्यों होते हो ? अभी मिलती है बस खाओ और सो रहो।"

बच्चों को भीतर भेज वह आटा गूँधने लगी। देखा तो आटा भी समाप्त होने को था। कठिनता से एक जून चलेगा। यह तीसरी चिन्ता और सवार हुई। इतने में चाची आ गई : "बहू।"

"आओ चाची।"

"क्या कहूँ बहू, अभी कुछ पाहुने आ गये हैं। थोड़ा-सा आटा···।"

"सामने टीन में देख लो न।"···आटा गूँधते हुए सरला बोली।

चाची ने झिझकते हुए टीन उठाया। छूँछा टीन खनखना उठा।

"बहू यह तो थोड़ा-सा है। प्रातः बच्चे क्या खायेंगे ?"

इतना कह चाची लौटने लगी। सरला तब तक हाथ धो चुकी थी। उसने आग्रह से चाची को पकड़ लिया...."अरे, अब खाली जाओगी। लें जाओ न। बच्चों के लिये चने रखे हैं।"

कृतज्ञता से चाची के नयनकोर भीग गये। उसने आँचल में आटा बांध लिया। भीतर से सुमन ने पुकारा : "माँ, नींद आ रही है।"... शीघ्रता से कुछ रोटियाँ सेंक उसने बच्चों को खिलाईं। छत पर लगा पाँच कैंडल पावर का बल्ब उनकी दरिद्रता की खिल्ली उड़ा रहा था। दिन भर के थके-माँदे बालक भोजन करते ही निद्रा के मधुर पालने पर झूलने लगे। सरला पेट भर खा भी नहीं सकी। उसके मस्तिष्क में गणित की पुस्तक, फ्राक और आटा घूम रहे थे। बुझे मन से दो रोटियाँ खाकर रसोई उठा दी। बर्तन साफ करने को मन न हुआ। ओढ़नी उठाकर सूई चलाने लगी। कल मध्यान्ह तक यदि वह समाप्त कर सके तो चार रुपये उसे पारिश्रमिक मिल जायेंगे। दो रुपये उसके पास पहले से रखे हैं। एक की गणित की पुस्तक, तीन का राशन और दो की सुमन की फ्राक। इस विचारमात्र से उसका मस्तिष्क प्रफुल्लित हो उठा। उसकी गति तीव्र हो गई, किन्तु उस क्षीण ज्योति में नेत्रों ने अधिक कार्य करने से द्रोह कर दिया। शनैः-शनैः उनमें पीड़ा, फिर पानी और फिर अन्धकार का आविर्भाव हुआ। निद्रा ने भी उसे विवश कर दिया। उसने सुई छोड़ दी। दिन भर व्यस्त रहने के कारण उसका अंग-अंग दुख रहा था। एक दुर्बल आह उसके अधरों से निकलती-निकलती रह गई। समीप के घड़ियाल ने बारह बजाकर उसे सोने का निमन्त्रण दिया, साथ ही सुनाई दी प्रहरी के कठोर कण्ठ की पुकार। जीवन-संघर्ष से श्रान्त उसने अपने आपको शय्या पर डाल दिया। संग्राम से थका पथिक शान्ति का केन्द्र बिन्दु ढूँढ

रहा था। भूला-भटका पक्षी असीम सृष्टि में अपना पथ खोज रहा था। भावनाओं के संघर्ष-लोक से थकी सरला न जाने कब निद्रा के स्वप्न-लोक में पहुँच गई।

प्रातः वह उठी तो कुछेक नक्षत्रावलियाँ प्रभात से होड़ लगाये अपनी ज्योति प्रज्वलित रखने को बेचैन थीं। प्राची में उषा का आलोक था। प्रभात का नव सन्देश उषाकालीन समीर के संग बिखर रहा था। पक्षी-गण गाने लगे। सरला ने मन ही मन विधाता को नमस्कार किया। नित्यकर्म से निवृत्त हो उसने एक अनुपम शान्ति अनुभव की। रात्रि की उत्तेजना उसके अन्तस्तल में न थी। दोनों बच्चे अभी भी निद्रा के अंक में बेसुध थे। ओढ़नी केवल चार गिरह रह गई थी, एक घन्टे का कार्य और बस तब वह तीनों वस्तुएँ जुटा सकेगी। कुछ प्रफुल्लित मुद्रा से वह गुनगुनाने लगी—

निर्बल के बलराम तुम्हीं हो
निर्धन के धनधाम तुम्हीं हो

जब उसने अन्तिम टाँका लगाया तो भगवान भुवन भास्कर की स्वर्णिम रश्मियाँ मचलती हुई दोनों बालकों के मुख पर दिव्यालोक डाल रही थीं। सरला ने दोनों बालकों को जगाया। पाठशाला जाने को प्रस्तुत किया। चाय के साथ गुड़ से सने चने दिये। सुमन मचली—"नमक-रोटी माँ!"

"नहीं बिटिया, आज आटा नहीं है, यही खा लो, मेरी अच्छी बच्ची।"— दोनों बच्चे चहकते हुए स्कूल चले गये। उन्हें अभाव से क्या? अल्हड़पन ही बचपन की धरोहर है, जीवित उल्लास की यह पुतलियाँ किसे प्यारी नहीं लगतीं। सरला ने नयनों में वात्सल्य भर अपने खिलते फूलों को निहारा! स्नेह-जल के अभावों में यह अर्धविकसित ही न रह जायें।

फिर साँकल चढ़ा वह बाज़ार चली। गली के दो-तीन घर गई होगी कि एक घर से चीखने की ध्वनि आई। फिरह्री-सी वह घूम पड़ी। किवाड़ की ओट से पुकारा : "क्या है बहिन, रामू क्यों चिल्ला रहा है ?"

"क्या कहूँ बहिन, रात से ज्वर तथा पेटदर्द है।"

"कोई औषधि···?"

राम की माँ के नयन भर आये : "तुमसे क्या कहूँ बहिन, रात को चूल्हा नहीं जला, खाने को तो जुटता नहीं, औषधि कहाँ से लाये। इससे तो मरना अच्छा है।"

"भगवान का नाम लो बहिन, अशुभ बात मुख से न निकालो। रामू की माँ तड़प उठी : "कहाँ है भगवान, जो हमारी बात सुनकर भी कान में तेल डाले बैठे हैं ?"

"ऐसा न कहो, वह सबकी सुनता है। यह लो एक रुपया और औषधि लाकर उपचार करो।" रामू की माँ कृतज्ञता से दब गई : "तुम देवी हो बहिन।"

सरला के मस्तक पर गौरव की एक रेखा दिखाई दी। धीमे स्वर से बोली : "मानवी बन सकूँ तो पर्याप्त है।"—और वह आगे बढ़ गई। मार्ग में चाची मिल गई। टोका : "प्रातः ही कहाँ चली बहू ?"

"यूँ ही चाची ! अनाज लेना है राशन समाप्त हो गया।"

"तुम्हारा तो बहू पूरे दिन भी निकल जाता है। यहाँ तो तीन दिन पहले चिन्ता करनी पड़ती है। चोर बाज़ारी का आटा खाने की हिम्मत किसमें है ? यही अनाज रुपये का आठ सेर बिकता था"—कहकर चाची ने झुर्रियों-भरे चेहरे से मुस्कराने का प्रयास किया। सरला ने कोई उत्तर नहीं दिया।

"यह दिन देखने भी भाग्य में थे, अब तो भगवान उठा ले।"

सरला थोड़ा-सा हँसी, व्यथा की मुस्कराहट। एक ठण्डी साँस लेकर बोली : "तुम तो ऐसा कह, छुट्टी पा गई चाची, किन्तु मुझे तो जीवित रहना है, इन बच्चों के लिये, इन दीपकों को स्नेह से तर रखने के लिये, इन अंकुरों को तूफानों से रक्षित रखने के लिये।"

"युग-युग जियें कमल और सुमन।"—चाची ने हृदय से आशीर्वाद दिया।

सर्वप्रथम सरला ने गणित-पुस्तक क्रय की। इतने में चाची ओढ़नी के पैसे ले आई। कहीं राशन का डिपो बन्द न हो जाये। बालक भूखे रहेंगे। समय बीत जाने पर दुकानदार दुत्कार देगा। और फिर यह पंक्ति-बद्ध खड़ा होना, अजब तमाशा है।

फिर कपड़े की दुकान पर गई। कई प्रकार के कपड़े दिखाये दुकानदार ने किन्तु सरला को कोई अच्छा न लगा। मकड़ी के जाले-सा कपड़ा और दाम ? कोई एक रुपया गज़, कोई सवा रुपया गज़। अन्त में एक श्वेत पापलीन उसे पसन्द आई। दाम पूछे तो दो रुपया गज़। चकित रह गई। उसके पास केवल एक रुपया था। और सुमन की फ्राक को लगेगा दो गज़······चार रुपये का······चार दिन पश्चात् रविवार······ पाठशाला का उत्सव। ओह ! बालिका का नन्हा हृदय टूट जायेगा। कल तक एक ओढ़नी तैयार करे तो बच्ची की फ्राक बन सकती है। किंकर्त्तव्यविमूढ़-सी वह लौट पड़ी। इन्हीं दुश्चिन्ताओं में वह घर पहुँच गई। एक ओढ़नी······कल तक। किन्तु वह यन्त्र तो नहीं। हाथ तो दो ही हैं। शीघ्रता से उसने भोजन तैयार किया। पुनः सूई और जाली।

उसके जीवन की गाड़ी उसी प्रकार अनवरत चली जा रही है। मनुष्य का कर्त्तव्य कर्म करना है, बिना फल की इच्छा की कामना किये, जीवन-पथ पर सतत बढ़ते रहना ही जीवन है, निष्क्रिय होना तो पराजय है।

स्फूर्ति थी उसके हाथों में। तीन बजे सुमन लौटी। सरला भोजन देने को उठी तो सिर घूम रहा था। चलने का प्रयास किया तो चक्कर खाकर गिर पड़ी। सुमन भागकर तारा को बुला लाई। सरला विक्षिप्त-सी भूमि पर पड़ी थी। तारा ने पुकारा—"भाभी ! सरला भावी !" सरला ने नेत्र खोले। आतुरता तो थी किन्तु निराशा न थी।

तारा ने आश्रय से सरला को चारपाई पर लिटा दिया। मस्तक ज्वर के ताप से जला जा रहा था। सरला ने संकेत से बताया—सुमन भूखी है। तारा ने उठकर भोजन दिया और बैठकर सरला का सिर दबाना चाहा। सरला हाथ हटाकर बोली : "रहने भी दो। क्या हुआ है मुझे।"

सुमन चहककर बोली : "माँ, बहिन जी कहते हैं, मैं कविता में पारितोषक लूंगी।"

इतने में कमल आ गया। बोला : 'माँ हमारी नवमासिक परीक्षा का परिणाम निकल आया। मैं प्रथम आया हूँ। अध्यापक मुझे छात्र-वृत्ति के लिये भेजेंगे।"

सरला के रक्तिम नेत्र मुस्करा उठे। मुख पर गरिमा की आभा थी।

उसने आलिंगन के लिये भुजाएँ फैला दीं। बच्चों ने वक्ष पर सिर रख दिया। कितना आनन्द था उन प्रेमपूर्ण हृदयों में। तारा ने अतीत को छेड़ा—इनके पिता होते तो···

"अतीत को विस्मृत के गर्त में पड़ा रहने दो बहिन। वर्तमान की सुन्दर नीव पर यदि मैं इन बालकों का भविष्य-भवन निर्माण कर सकूँ तो जीवन सफल हो जायेगा।"

तारा ने देखा सरला अभाव में भी कितनी गरिमामयी है। आवेश में उठकर उसने सरला के चरण छू लिये : "तुम धन्य हो भावी। निराशा में आशा का प्रदीप जलाने वाली देवी मुझे चरण-रज दो।" पाँव छुड़ाकर सरला बोली : "नहीं तारा, तुम कुछ नहीं समझतीं। मनुष्य यदि

परिस्थितियों से संघर्ष कर सके तो मनुष्य है। नहीं तो कीट से भी नीचतर है। जो दब जाये, उसे संसार दबाता है। अतः बढ़ो, अपनी समस्त शक्तियों को लेकर अपने पथ पर बढ़ो। तुम परिस्थितियों की दास नहीं, परिस्थितियाँ तुम्हारी दास हैं।"

सरला के नेत्र मुँदे थे और मुखमुद्रा शान्त। एक अलौकिक प्रतिभा उसके क्षीण मुख को प्रदीप्त कर रही थी और तारा देख रही थी उस गौरव-प्रतिमा को एकटक।

देवरानी और जेठानी

"बीनू ! ओ बीनू"......अपने मकान की ईंट चुनते हुए नन्ही शमी ने बीनू को पुकारा। किन्तु बीनू कैसे सुनता। नन्हे-नन्हे हाथों में छोटा-सा फुहारा लिये वह अपनी फुलवारी को सींच रहा था। शमी भल्लाकर उठ आई, यह अवहेलना उसके लिये असह्य थी। नेत्रों में क्षोभ-पूर्ण भाव लिये बोली : "सुनते नहीं, हम तुमसे रूठ जायेंगे।"

यह चुनौती पाते ही बीनू चौंक उठा। सन्धि का आमन्त्रण देते हुए बोला:

"क्या कहती हो ?"

"आओ तुम्हें अपना घर दिखाऊँ।"

"ऊहूँ ! पहले मेरी फुलवाड़ी देखो।"

"अच्छा ! चलो।" आत्मसमर्पण के भाव से शमी ने उत्तर दिया।

घर दिखाने से पहले बीनू की फुलवाड़ी देखनी आवश्यक थी। नहीं तो बीनू अड़ियल टट्टू सदृश अड़ जायेगा, तब घर बनाने का समग्र आनन्द लोप हो जायेगा। शमी ने फुलवाड़ी देखी और देखते ही मोहित हो गई। देखो तो कैसी सुन्दर छोटी-छोटी क्यारियाँ हैं। यह प्रवेशद्वार,

यह टहलने के लिये सड़क और वह सुरक्षा के लिये काँटों की बाड़। कैसा सुरुचि-सौंदर्य है, उसके सृष्टि-कर्त्ता में। वह बीनू की प्रशंसा किये बिना न रह सकी। किन्तु उसका मन भी मचल उठा। यदि यही उपवन उसके घर के सामने चला जाये तो घर की शोभा द्विगुणित हो जाये और फिर उसकी गुड़ियों के भ्रमण के लिये कोई न कोई उपवन अवश्य चाहिये। कैसी प्यारी लगेगी उसकी गुड़िया टहलती हुई। फिर आज-कल बँगले के सम्मुख उपवन लगाने की परिपाटी भी है; अतः फुलवारी को उसके घर के सामने जाना ही चाहिये। वह अभी इसी उधेड़-बुन में थी कि बीनू ने पूछा, "कैसी लगी मेरी फुलवारी ?"

"बहुत सुन्दर! चलो तुम्हें अपना घर दिखाऊँ।"

"चलो"......और शमी आग्रहपूर्वक बीनू का हाथ पकड़ ले चली।

"क्यों, कैसा है मेरा घर ?"

बीनू ने जैसे परखते हुए उत्तर दिया : "अच्छा है, किन्तु है अधूरा।"

"कैसे"

"देखते नहीं, आज-कल फुलवारी के बिना घर नहीं बनता।"

"तो तुम अपनी फुलवारी यहाँ उठा लाओ।"

"नहीं, तुम अपना घर वहाँ ले चलो।"

"घर कैसे जा सकता है ?"

"फुलवारी कैसे आ सकती है ?"

"क्यों नहीं आ सकती ?"

"घर क्यों नहीं जा सकता ?"

अब शमी क्या करे। बीनू फुलवारी लाने को उद्यत नहीं और फुलवारी-रहित घर सुन्दर नहीं लगता। पराजित-सी बोली : "अच्छा; तुम हमारी गुड़िया उठाओ, हम घर उठायेंगे।"

बीनू और भी अकड़कर बोला : "हम क्या नौकर हैं ?"

अनुनय से मनाती हुई शमी ने कहा : "राजा भय्या ।"

इस स्नेहपूर्ण आग्रह से बीनू गुड़िया उठाने को विवश हो गया। अब राजा भय्या गुड़िया की सवारी सिर पर उठाकर उछलते-कूदते जो चले तो गुड़िया बेचारी कलाबाज़ियाँ खाती चारों खाने चित्त जा गिरी। उसके आभूषणों के मोती भूमि पर बिखर गये। शमी ने बिखरे हुए मोतियों को यों देखा जैसे उसकी आशाओं के तारे बिखर गये हों। उसे क्रोध हो आया। घर को वहीं फेंक उसने बीनू को पकड़ लिया और बीनू ने स्वरक्षा कानून के अनुसार उसकी भुजा पर काट खाया। पकड़ ढीली हो गई। शमी रोती, चिल्लाती माँ के दरबार में गई।

◇ ◇ ◇

सुरेश और नरेश दोनों भाई थे। भारतीय पद्धति के अनुसार अभी उनके घर में सम्मिलित कुटुम्ब की प्रथा चल रही थी। व्यापार, कारोबार सब एक था। दोनों भाई एक प्राण थे। किन्तु देवरानी-जेठानी का द्वन्द्व चला ही करता था। प्रायः छोटी-सी बात को लेकर ही झगड़ा बढ़ जाता और वर्ष-छमाही में एकाध बार महाभारत हो ही जाता। कभी बच्चों की बात पर, कभी कपड़े-लत्ते पर और न हो तो घर के काम-काज पर ही कुछ न कुछ संघर्ष हो जाता। दोनों भाई परेशान थे।

कमला ने शमी को चिल्लाते हुए सुना तो उच्च स्वर से पूछा : "क्या है री ? चिल्लाती क्यों है ?"

माँ के स्वर को सुनकर शमी और भी ज़ोर से रोने लगी। बाँह को आगे कर दिखाया उसने। चार अगले दाँतों के चिह्न स्पष्ट थे। रक्त बह रहा था। बोली : "हाय-हाय कैसा दुष्ट छोकरा है ! मांस ही खींच-कर ले गया। चल तो ताई के पास......।" और वह शमी को साथ लेकर जेठानी के पास चली। मंगला ने बीनू को भागकर छिपते तो देखा

था; किन्तु कारण से अनभिज्ञ थी। हाथ का काम छोड़ती हुई बोली : "क्या है कमला, बिटिया क्यों रोती है ?"

प्रश्न कान में पड़ते ही जैसे कमला जल उठी। तुनककर बोली : "अभी तो बीनू भागकर छिपा है जीजी, जानकर भी अनजान बनती हो।"

कमला की अवहेलना से मंगला ने एक वेदना का अनुभव किया। ज्ञात होता तो पूछने की क्या आवश्यकता थी। आगे बढ़कर शमी की बाँह देखी। "ओहो बड़ा बुरा काटा है, बड़ा चण्डाल है। निकल तो बीनू बाहर। आ बेटी दवा लगा दूँ।"

"तुम ने पुच-पुच करके इसका दिमाग़ सिर पर चढ़ा रखा है जीजी। उस दिन पत्थर मारकर सिर फोड़ दिया था, आज खून फिर निकाल दिया। यह लड़का इसकी जान छोड़ेगा तब न।"

इन शब्दों ने मंगला के क्रोध को प्रज्वलित कर दिया। वह तो स्पष्ट पुत्र का दोष मान रही है और यह देवरानी फिर भी उसकी अवहेलना कर रही है। पुत्र के नाम पर उसे उलाहने दे रही है। उसने चीखकर कहा : "बीनू, निकल बाहर।"

माँ की कर्कश वाणी सुन बीनू सहम उठा, यह तो स्नेहमयी माँ की सान्त्वना भरी पुकार नहीं है। बच्चा भी इस भाव को समझता था। इसपर भी जब वह बाहर न निकला तो मंगला ने चारपाई के नीचे झुककर जो खींचा तो बच्चा चिल्ला उठा। वर्ण विवर्ण हो गया। उस के निरीह नेत्र जैसे क्षमा की याचना कर रहे थे, किन्तु क्रोधित माँ को दया नहीं आई। मानसिक क्षोभ ने उसके वात्सल्य को दबा दिया था। कमला के वचन अब भी उसके कानों में गूँज रहे थे। तुमने पुच-पुच करके इसका दिमाग़ सिर पर चढ़ा रखा है जीजी······और उसने दो-तीन चाँटे कसकर बीनू के मृदुल कपोलों पर जमा दिये। बच्चा रोने

लगा तो मुख पर हाथ रख दिया······"निकाल आवाज़, बदमाश कहीं का। शरारतों से बाज नहीं आता।"

तभी उनकी ननद चन्दा मध्य में आई और बीनू को अपनी अंक में छुपा लिया। बोली : "बस करो भाभी, ऐसे भी कोई बच्चे को मारता है।"

बीनू बुआ की गोद में सिसकने लगा। बीनू की मार देखकर शमी अपना कष्ट भूल गई थी और कमला क्या कहे। शमी को डाँटती हुई बोली : "अब जो तू बीनू के साथ खेली तो टाँग तोड़ दूँगी। नाक में दम कर रखा है इन कम्बख्तों ने।" और घसीटती हुई ले गई।

उस दिन से देवरानी-जेठानी में बोल-चाल बन्द हो गई। एक ही घर में रहते हुए भी दोनों एक दूसरे से यों कन्नी काटतीं जैसे कोई शत्रु हों। किन्तु बच्चों के स्वच्छ हृदय में लड़ाई-झगड़े की इतनी विस्तृत व्याख्या नहीं होती। सावन में जैसे बादल की टुकड़ी बरस जाने पर नभ निर्मल हो जाता है वैसे ही बच्चों की लड़ाई में शत्रुता की भावना नहीं होती। वे दिन में कई बार लड़ते हैं और कई बार सन्धि कर लेते हैं; किन्तु इस बार झगड़े का आधार बच्चे ही नहीं, उनकी माताएँ भी थीं।

बीनू और शमी दूर से एक दूसरे को देखते। सन्धि करने के लिये मन मचल उठता। किन्तु माँ की उग्र मूर्ति का स्मरण आते ही पग पीछे हटा लेते। दोनों बच्चे उदास रहने लगे। वह चहचहाना, वह प्रफुल्लित मुख-मुद्रा न जाने कहाँ चले गये। शमी अलग अपनी गुड़िया सहेजती और बीनू अलग अपनी क्यारियाँ बनाता। कभी एक दूसरे से दूर बैठे भाँड़ बनाकर सोचते। देखें, किसका भाँड़ सुन्दर बना है? किस-का ऊँचा! किन्तु स्वतन्त्र पक्षियों के जैसे पंख काट लिये गये थे। एक अज्ञात भय लिये दोनों शिशु जी मसोस कर रह जाते। अपने भाव प्रकट

करने की क्षमता उन अविकसित फूलों में कहाँ थी। दोनो घुलने लगे।

बच्चों को दुर्बल होते देख माता-पिता की चिन्ता बढ़ी। खान-पान में तो पहले ही कोई त्रुटि न थी। अब बादामों की बढ़ती हुई। डाक्टर को दिखाया जाने लगा। नये-नये खिलौने आने लगे। बीनू के लिये मोटर आई तो शमी के लिये रेलगाड़ी। किन्तु बीनू सोचता, शमी की गुड़ियों के बिना मोटर कैसे चले और शमी सोचती, बीनू गार्ड के अतिरिक्त मेरी गाड़ी को हरी झंडी कौन दिखाये ?

इधर बच्चों की यह दशा थी, उधर देवरानी-जेठानी भी हठ पर अड़ी थीं। कोई भी एक दूसरे के सम्मुख नत होने को उद्यत न थी।

धीरे-धीरे बीनू ने चारपाई पकड़ ली। ज्वर का तापमान तो निन्ना-नवे ही रहता, किन्तु वह दुर्बल होता जा रहा था। मंगला दिन-रात उसके सिरहाने बैठी रहती। बीनू अब अधिक बोलने का इच्छुक नहीं। माँ बुलाती है तो भी अनिच्छा से कभी-कभी बोलता है। एक दिन सुरेश उसके निकट बैठे थे। आज वे बीनू के लिये बहुत-से खिलौने लाये थे; किन्तु बीनू ने आँख उठाकर देखा भी नहीं। सुरेश ने स्नेह से सिर पर हाथ फेरकर कहा : "बीनू देखो, यह घोड़ा, यह हवाई जहाज़, यह मुर्गी।"

बीनू ने आँख घुमाकर देखा। फिर करवट बदल ली। सुरेश ने भाव बदलकर कहा : "बीनू, मेरे साथ खेलोगे ?"

"न" बालक ने संक्षिप्त उत्तर दिया। "शमी के साथ ?" इस बार बीनू केवल मुस्कराकर रह गया। सुरेश उसके मर्म को समझ गये। उनको पत्नी पर क्रोध हो आया।

बोले : "देख लो मंगला, अपने ही हाथों अपना संसार उज-ड़ता देख लो। इस नन्हें हृदय को जो तुम अपने हठ का शिकार बना रही हो, उसका परिणाम अच्छा न होगा।"

माँ द्रवित हो गई। ऐसी अमंगल-सूचक वाणी ओह, नहीं वह स्वयं कमला को मनाकर शमी को ले आयेगी। घुटनों में मुँह छिपाकर वह रो पड़ी। इसी बीच सुरेश चले गये थे। उसने बीनू को देखा। तभी विचार ने पलटा खाया, नहीं कमला छोटी है। देवरानी है। बीनू की यह दशा देखकर भी उसे दया न आई। तब वह उससे क्षमा की भीख नहीं माँगेगी। कभी नहीं।

एक दिन कमला कहीं बाहर गई थी और मंगला बीनू के लिये दूध गरम करने। चन्दा बीनू को तोते की कहानी सुना रही थी। बीनू बुआ की सुन्दर चूड़ियों से खेल रहा था। शमी द्वार के एक कोने से झाँक रही थी। चन्दा ने पुकारा : "शमी !" शमी ने उत्तर नहीं दिया। चन्दा ने अनुभव किया कि दोनों बच्चों के नेत्रों में पारस्परिक अभाव की भावना थी। चन्दा ने पुनः पुकारा : "शमी आओ न, बीनू बुला रहा है।"

बीनू वक्र दृष्टि से देखकर मुस्कराया। चन्दा शमी को खींच लाई। भयाकुल-सी शमी बोली : 'माँ मारेगी।"

"नहीं मारेगी माँ, खेल भाई के साथ। देख भय्या कैसा दुर्बल हो गया है।"

बीनू मचलते हुए बोला : "बहिन हमारे साथ बोलती नहीं है।'

चन्दा मनाते हुए बोली : "अब नहीं रूठेगी तेरे साथ बहिन।"

बीनू चहकता हुआ उठ बैठा। चन्दा उसके खिलौने ले आई, किंतु बीनू को यह स्वीकार नहीं। बोला : "बहिन हमें झूला झुलाओ।"

चन्दा ने टोककर कहा : "नहीं, अभी नहीं।"

किन्तु बीनू लहर में आकर बोला : "नहीं, हम अभी झूलेंगे, चल तो शमी।"

चन्दा चकित रह गई। कुछ क्षण पहले का रोगी बालक किस शक्ति से उठकर खड़ा हो गया। कैसी स्फूर्ति आ गई उस दुर्बल शिशु

में । दो पक्षी जैसे पिंजरे के बन्धन से मुक्त गगन में उड़ने को छोड़ दिये गये । मंगला ने बिस्तर को शून्य देखा तो पूछा : "अरे ! बीनू कहाँ गया ?" चन्दा उत्तर में केवल मुस्करा दी ।

"बताओ न बहिन" : आग्रह से मंगला बोली । चन्दा मूक भाव से भाभी का हाथ पकड़कर ले चली । बाग में देखा तो शमी धीरे-धीरे बीनू को झुला रही है । उसी समय कमला भागती आई । चन्दा उसे मार्ग में ही रोककर बोली : "भगवान् के लिये जाओ मत भाभी ! बच्चे खेल रहे हैं । उनके स्नेह-तन्तु को अपनी हठवादिता से मत तोड़ो ।"

और वह दोनों भाभियों को घसीटती ले चली । कमला के नेत्रों में क्षमा-याचना थी और मंगला के नयनों में स्नेह का आभास ।

एक पैसा

"एक पैसा बाबू । ईश्वर के नाम पर ।"

"चल हट, मूर्ख ।"

"कल से भूखी हूँ बाबू । गंगामाई तेरा भला करे। तुझे अच्छी नौकरी मिले । तेरी सुन्दर बहू आये । सोने की परी आये" और भी मंगलकामनाएँ और आशीर्वाद उस दस वर्षीया भिखारिन के मुख से निकले ।

बाबू साहब एकदम क्रोध से लाल-पीले हो रहे थे । छड़ी घुमाते हुए बोले : "परे हट के मर । माँगते हुए इन्हें लज्जा भी नहीं आती । जीवन दूभर कर रखा है ।" और वह शीघ्रता से आगे बढ़ गये । बालिका एक विवशता-भरी दृष्टि डाल ठिठककर खड़ी हो गई । उसके स्तम्भित नेत्रों में कितना मूक हाहाकार था । उसके अश्रुपूर्ण नयन प्रकृति के कण-कण से पूछ रहे थे—हमारा दोष ?

उसके दाँत शीत से कटकटा रहे थे । पौष की अंगों को काटने वाली सर्दी में भी वह केवल फटी घाँघरी और जीर्ण-शीर्ण कुरता पहने थी । ठण्डी पवन भी छिदरे चिथड़ों में से क्षीण शरीर में कंप-कँपी पैदा कर रही थी ।

◇ ◇ ◇

अमृतसर स्टेशन से कुछ दूर रेल के बड़े पुल के पार भिखारियों की एक बड़ी टोली दिखाई देती है। वे पथिकों को इतना तंग करते हैं कि परेशान हो गालियाँ देनी पड़ती हैं। कभी-कभी कोई उनके पेशे से खीझकर सरकार को भली-बुरी सुनाते हैं कि उसने अभी तक इस घृणित प्रथा को बन्द नहीं किया। परन्तु कभी किसीने इस समस्या को सुलझाने की चेष्टा नहीं की। वे भी तो मानव हैं। फिर क्यों उनके बच्चे शीतकाल में ठिठुरते फिरते हैं। क्यों उनके मुख मलिन रहते हैं। और तन दीन-हीन रहता है।

भीख माँगना ही उनका स्वभाव बन गया है। कोई उनके साथ उठना-बैठना पसन्द नहीं करता। बदमाश और गिरहकट की उपाधियाँ उन्हें दी जाती है, क्यों ?

लोहे के जंगले को एक हाथ से थामे वह बाला मूक, करुणा-भरे तृषित नेत्रों से आने-जाने वाले पथिकों को निहार लेती थी। उसके काले नेत्रों में निराशा की कालिमा दृष्टिगोचर हो रही थी। एक बड़ी आह बार-बार उसके मुख से निकल अनन्त वायु में विलीन हो जाती। पर उस दुर्बल आह में किसीको द्रवित करने की शक्ति न थी। सहसा उसके आँसू-भरे नयन कुछ चमके। एक टाँगा उसके निकट आ पहुँचा था। उसमें शायद कोई नव विवाहित युगल था। युवक गैबेडीन का सूट और युवती मद्रास सिल्क की तिल्लई साड़ी और सुन्दर-सा श्वेत कोट पहने थी। कुन्दन किया हुआ सुन्दर गुलुबन्द उसकी कपोत ग्रीवा पर दमक रहा था। पाँवों में क्रेप सोल की प्लास्टिक सैंडल और हाथ में प्लास्टिक का लाल रंग का पर्स। वस्त्रों में सैन्ट की धीमी महक वातावरण को सुरभित कर रही थी। बालिका ने चकाचौंध करने वाले रूप और वस्त्र देखे तो देखती रह गई। फिर यन्त्र-चालित-सी वह टाँगे के पीछे भागने लगी। आशीष के अभ्यस्त शब्द उसके मुख से इस प्रकार निकल रहे

थे जैसे पतझड़ में पत्ते या श्रावण की कादम्बनी से जल कण। पुल की चढ़ाई पर वह हाँप रही थी और गा रही थी—

तू एक पैसा दे दे,
तू सुन्दर साड़ी वाली,
तिल्ले की साड़ी वाली,
तू सुन्दर मुखड़े वाली,
तेरा सूट वाला जिये

यह शब्द सुनकर, दोनों खिलखिलाकर हँस पड़े। फिर झिड़ककर युवती बोली : "हटती है कि नहीं, गिरकर मर जायेगी।" पर बालिका ने सुना नहीं जैसे, वह उसी प्रकार गाती रही।

युवक युवती से कह रहा था : "मेरे विचार में एक बैंगलोर सिल्क की साड़ी आज अवश्य खरीद लो नीरा, सन प्रूफ कलर की।"

पर नीरा ने उस ओर ध्यान न देकर कहा : "दे दूँ एक पैसा, पीछा तो छूटेगा ?"

"कदापि नहीं"—तनिक आवेश में युवक बोला : "इन लोगों को दान देना देश के प्रति अन्याय है।"

नीरा बोली : "इनकी दशा कितनी दयनीय है। द्रारिद्रय की कैसी कठोर छाप इनके दीन मुख पर अंकित और कीलित है।"

बाबू साहब की भवें कुछ खिंच गईं, बोले : "यह सब ढोंग हैं। भीख माँगने के ढंग हैं। यह भिखारी मानवता के लिये अभिशाप हैं।"

और फिर वह अपनी ही बातों में मस्त हो गये : "तनिक शीघ्र अपनी बिक्री समाप्त कर देना। आज मध्याह्न को मैटिनी शो देखने चलेंगे।"

"मैंने तो पहले ही बाजार आने के लिये अनिच्छा प्रकट की थी, केवल आपके अनुरोध पर चली आई।"

"नहीं नीरा, दो-एक वस्तुएँ लेनी अति आवश्यक हैं। एक प्लास्टिक की श्वेत सैंडल। श्वेत प्रत्येक रंग से मैच करती है और फिर सराफा बाजार भी जाना है। एक बालियों का डिज़ाइन आज ही देखा है। लेटेस्ट !"

नीरा मुस्करा पड़ी। कानों में पड़े जड़ाऊ कर्णफूल चमक उठे।

एक रट से आशीषों की झड़ी लगाये भिखारी बालिका उनकी भाषा से अनभिज्ञ थी। माँगते-माँगते उसकी साँस उखड़ गई थी। तब वह टाँगे को थाम भागने लगी।

नव दम्पति अपने आनन्द में बाधा जान खीझ गये।

"ढिठाई की भी सीमा होती है। एक बार नहीं सौ बार कहा, नहीं मिलेगा, नहीं मिलेगा।"

हाँपती बालिका ने रुकते गले से कहा : "एक पैसा बाबू, ईश्वर के नाम पर, कल से एक दाना नहीं मिला।"

"घोड़े को चाबुक लगाना ज़रा..."

बेतरह खीझकर युवक बोला। टाँगे वाले ने चाबुक लगाया, घोड़ा और भी तीव्रता से भागने लगा। परन्तु लड़की ने टाँगा तब भी नहीं छोड़ा। अपनी करुण दृष्टि उन दोनों के चेहरों पर गाड़े वह वैसे ही भागती रही। वेदना और टीस का अथाह सागर उसके शून्य नेत्रों में उफन रहा था। उसकी मूक व्यथा मानो मूर्तिमति होकर पुकार-पुकार-कर कह रही थी—क्यों हम भी मानव हैं। हमारे लिये तुम्हारे हृदय में ममता नहीं ? नाली के गन्दे कीटाणुओं की भाँति द्रारिद्रय कीचड़ में लथपथ रहना ही क्या हमारा जीवन है ?

युवक और युवती बुरी प्रकार झल्ला रहे थे। उनके मधुर प्रेमालाप में उसकी कर्कश ध्वनि बाधा बन रही थी। युवक ने क्रोध से दूर हटाने के लिये बूट का प्रहार किया जो सीधे बालिका के ऊपर के होंठ पर

बाप ने आतुरता से देखा। आशा-निराशा का कैसा अद्भुत सम्मिश्रण था। क्षीण स्वर में बालिका बोली: "एक पैसा"—और समाप्त। माँ-बाप चीत्कार कर उठे।

देश के असंख्य लालों का यही मूल्य है, यही अन्त है। मरकर भी उसका निश्चेष्ट मूक मुख बोल रहा था: "एक पैसा परमात्मा के नाम पर।"

पर परमात्मा के असंख्य पुजारियों को उनपर दया नहीं आती।

अनुपमा

टक, टक, टक !

द्वार खटखटा उठा। किन्तु नहीं, रमेन्द्र का ध्यान भंग नहीं हुआ। भावों के सुदूर लोक में उसका मन न जाने कहीं व्यस्त था। कुर्सी को टेढ़ा किये, मेज पर टाँगें फैलाये, शून्य की ओर निहारता हुआ वह सिगरेट का लच्छेदार धुआँ छोड़ने में व्यस्त था। वायुमंडल में गोलाकार चक्रों की सृष्टि करता हुआ धूम अपनी सत्ता को वातावरण में विलीन कर रहा था।

प्रातःकाल था। बाल सूर्य की अर्ध विकसित धूप वातायन के झरनों से छन-छनकर उसके गौरवर्ण मुख पर सतरंगी आभा की रश्मियाँ डाल रही थी। उस धूप-छाँही वातावरण में उसके मुख पर किरणें कैसी क्रीड़ा कर रही थीं, इसका अवकाश रमेन्द्र को कहाँ था ? सम्मुख मेज पर एक खुला पत्र पड़ा था। अक्षरों के रूप में असंख्य मुक्ता-मणि उस-पर बिखर रहे थे। अव्यस्थित-सा वह पत्र उठाकर पढ़ता और फेंक देता। इसी उधेड़-बुन में उसने शेव भी नहीं बनाई। पड़ा-पड़ा पानी ठंडा हो गया। आफिस जाने का समय हो गया। दिवार पर लगी घड़ी ने नौ बजा दिये। नौकर दो बार आफिस जाने की चेतावनी भी दे

गया । वायु के झोंकों से पत्र फहरा उठता, परन्तु रमेन्द्र की अटूट अन्य-मनस्कता टूटने में नहीं आई ।

द्वार खटखटाने वाली युवती ने निःशब्द पग रखते हुए कमरे में प्रवेश किया । धीरे-धीरे रमेन्द्र की कुर्सी तक जा पहुँची । किन्तु अपने उद्देश्य में सफल नहीं हुई । आगे बढ़कर उसने अपने कोमल हाथ रमेन्द्र की आँखों पर रख दिये । रमेन्द्र चौंका । उन हाथों को पहचानकर बोला : "ओह रोज । तुम इस समय ।"

रमेन्द्र ने अपने बलिष्ठ हाथों से उसके हाथों को थाम लिया । रोज कुछ अभिनय के साथ उसकी बगल में कुर्सी पर ही बैठ गई ।

यहाँ यदि रोज का कुछ परिचय दे दिया जाये तो अयुक्त न होगा । उन दोनों का मिलन दैवात् ही समझिये । संध्या काफी ढल चुकी थी । कुछ धीमी-धीमी तारिकाएँ नभ-मण्डल में मचलने लगी थीं । छावनी की सड़क इस समय निस्तब्ध थी । लोगों के आने-जाने का क्रम घट चुका था । इस प्रशान्त वातावरण में रमेन्द्र धीरे-धीरे टहल रहा था । सहसा उसने देखा, दूर से एक सुन्दरी मन्द गति से साइकल पर आ रही थी । उसके लच्छेदार बाल समीर के झोकों से लहरा रहे थे । साड़ी का आँचल उसके सौंदर्य की पताका बनकर फहरा रहा था । एकाएक भूकम्प के झटके की भाँति युवती और साइकल दोनों भूमि पर पड़े थे । रमेन्द्र ने इधर-उधर ताका । कोई अन्य पक्षी तक भी वहाँ न था । क्या करे वह ? एक अपरिचित युवती और एकांत वातावरण ? फिर मानवता का आग्रह देख उसने पग आगे बढ़ाया । उसने युवती को प्रकृतिस्थ किया । युवती उठ बैठी । वह नितांत सुन्दरी थी । गौर वर्ण, सुघड़ नासिका, नील वर्ण विशाल नेत्र, सुनहरी अलकें । परन्तु रमेन्द्र का सुदृढ़ सुगठित अंग-विन्यास, पुरुषत्व की सजीव प्रतिमा ? युवती स्तब्ध-सी रह गई ।

झिझकता हुआ रमेन्द्र बोला : "क्षमा करें, आप गिर पड़ी थीं ।" युवती में यह झिझक नहीं थी । साहस से बोली : "ओह ! धन्यवाद ।

आप न होते तो मैं न जाने कब तक पड़ी रहती। हमारा बँगला समीप ही है। भाई आपको देखकर बड़े प्रसन्न होंगे। चलिये।"

रमेन्द्र युवती की चंचलता को देखता रह गया; परन्तु इस अनुरोध को अस्वीकार भी न कर सका। उसी दिन का यह क्षणिक मिलन चिर घनिष्टता में परिवर्तित हो गया। उस एंग्लो-इंडियन परिवार में रमेन्द्र धीरे-धीरे एक नवीनता का अनुभव करने लगा।

रोज ने टोकते हुए कहा : "कौन-सी समस्या में उलझे हो ? द्वार खटखटाने पर भी ध्यान नहीं टूटा।"

मुस्काने का विफल प्रयास कर रमेन्द्र बोला : "कुछ नहीं यों ही।"

"और यह सिगरेट पर सिगरेट क्यों फूँक रहे हो ? सिर चकरायेगा तो"—ऐशट्रे के ढक्कन उठाकर देखती बोली। "ओह इतनी राख ?"

"तुम स्वयं तो कहती हो, सिगरेट पीता हुआ मैं तुम्हें सुन्दर लगता हूँ।"

रोज ठहाका मारकर हँसी : "तो यह कहो, दोष मेरे सिर मढ़ा जा रहा है। यह किसका पत्र है ? अरे ! यह तो अनुपमा का है। अक्षर बड़े सुन्दर है, क्या लिखा है ?"

"पढ़ के देख लो।"

◇ ◇ ◇

संध्या का प्रशांत वातावरण। चिड़ियाँ झुरमुटों में चहक रही थीं। अस्ताचलगामी सूर्य का निस्तेज प्रकाश प्रकृति को रंजित कर रहा था। संध्या रानी अपने सौंदर्य पर इठला रही थी। नीरवता का अखंड साम्राज्य था। एक बड़ी कोठी के बाहर उद्यान में एक अनिंद्य सुन्दरी, वृक्ष के तने का आधार लेकर, चित्र-लिखित प्रतिमा-सी खड़ी थी। विशालकाय नेत्रों में कोई निराशा और दो अश्रु-बिन्दु, मुख-मुद्रा आतुर और विषण्ण। निर्निमेष नेत्रों से शून्य की ओर निहारती निश्वासों के

द्वारा हृत्तल की व्यथा को बाहर निकालने का निष्फल प्रयास कर रही थी। सहसा एक अन्य युवती ने उसके कंधे को थाम लिया। प्रतिबंध लगाने तक वह विशृंखल अश्रु-बिन्दु पलकों के कारागार ने निकल कपोलों पर ढलक आये। आगुन्तका युवती ने पुकारा : "भाभी।" आँचल-पट से कपोल पोंछती हुई युवती ने उत्तर दिया—"क्या है मंजु ?"

मंजु का कंठ-स्वर आर्द्र हो उठा……"रोती हो भाभी ? तुम्हारी निराशा का प्रभाव नन्हे पर क्या होगा ?"

"नहीं रोऊँगी मंजु।"

"मेरी अच्छी भाभी। पिता जी स्वयं भैया का पत्र न आने से चिन्तित हैं। उधर जगतराम का जो पत्र आया है, उससे एक नवीन अध्याय का पन्ना खुलता है।"

विस्फारित नयनों से कौतूहल प्रदर्शित करते हुए अनुपमा ने पूछा : "क्या ?"

"भीतर चलो, तुम्हें उस दिन की स्मृति है, जिस दिन भैया विदा हुए थे ?"

अनुपमा बोली : "वह दिन क्या भूलने का है बहिन। मुझे अपने शब्द अक्षरशः स्मरण हैं। मैंने कहा था : महत्त्वाकांक्षा का अंकुर, भावुकता के तुषारापात से सुरक्षित रखना होगा। अपने वैयक्तिक सुखों के लिये मैंने उनकी प्रगति में बाधा नहीं डाली।"

पीछे से अनुपमा का आँचल खींचता हुआ तीन वर्षीय नीरज दांत निकाल रहा था।

अनुपमा ने उसे अंक में भर लिया। चुम्बन लेती हुई बोली : "यदि मेरा गला घुट जाता नीरू।" बालक चहकता हुआ बोला : "मैं तुम्हारा गला थोला घोंट लहा था। मैंने पुकाला, तुमने थुना नहीं।"

मंजु ने चिकोटी काटी और बोली : "माँ बहुत खराब है नीरू ?"

भला चिकोटी का प्रतिशोध लिये बिना नीरू का हृदय कैसे मानता—"माँ तो छुन्दल है बुआ जी, तुम बली खलाब हो।" फिर माँ का बन्धन

छुड़ाता हुआ बोला : "बोल तो माँ, मैं भी बुआ जी को चिकौती काटूँगा।" मंजु मुस्करा रही थी, अनुपमा भी कुछ मुस्कराती हुई बोली : "नहीं मेरे लाल, बुआ जी को चिकोटी नहीं काटते। नहीं तो मैं राजा बेटा नहीं बनाऊँगी।"

माँ की गर्दन को और भी जकड़ता हुआ बालक बोला : "मैं तेला राजा बेटा बनूँगा। बुआ जी के साथ नहीं बोलूँगा।"

अन्धकार प्रगाढ़ होने लगा था। संध्या सुन्दरी को पराजित कर रजनी बाला नक्षत्र-जटित चुनरी ओढ़े मुस्करा रही थी। दोनों रमणियाँ भीतर चली गईं।

उसी रात्रि को अनुपमा का अभियोग सास-ससुर के सम्मुख उपस्थित हुआ और वह अस्वीकार न कर सकी कि रमेन्द्र का पत्र अब यदा-कदा ही उसे प्राप्त होता है। माता-पिता उस दिन की प्रतीक्षा में थे जब पुत्र यश का सेहरा बाँध उनके नाम को उज्ज्वल करता लौटेगा। साक्षात् कार्तिकेय-सा सुन्दर गुणवान् पुत्र और प्रत्यक्ष लक्ष्मी-सी बहू। परन्तु जगतराम के पत्र ने वज्र गिरा दिया। परदेश में बच्चे को खाने-पीने का कष्ट न हो, यह सोचकर माँ ने घर के विश्वासी नौकर जगतराम को साथ भेजा था। वही अब लौटने की अनुज्ञा चाहता है। रमेन्द्र बाबू से वह प्रसन्न नहीं। और कई व्यर्थ की बातें पत्र में लिखी थीं। माता-पिता पुत्र से ऐसी आशा नहीं रखते थे। परन्तु उन्हें चिन्ता थी तो अनुपमा की। वह पत्र पढ़कर निश्चल बैठी थी। कभी-कभी पाँव के अँगूठे से भूमि पर कुछ चित्र अंकित करने लगती। किसी प्रकार का विक्षोभ उसके मुख-मण्डल पर न था। जगतराम की माँग को सम्मुख रखकर सबकी सम्मति पूछी गई। ससुर ने पूछा : 'तुम्हारी क्या राय है बेटी।"

चौंककर अनुपमा बाली : "मेरी ? मुझे वहाँ जाना चाहिये पिता जी !"

अवाक्-सी सास बोल उठी : "तुम वहाँ जाओगी बहू ? अकेली ?"

"भय क्या है माता जी ? गाड़ी सीधी जाती है। जगतराम वहाँ है ही।"—परन्तु सास को विश्वास नहीं हुआ : "मंजु को ले जाओ।"

"मंजु बच्ची है, उसे अभी से इन झंझटों में डालने की आवश्यकता नहीं।"

अनुपमा के दृढ़ निश्चय के सम्मुख सास-ससुर परास्त हो गये। अन्त में रविवार को उसकी यात्रा का दिन निश्चित किया गया।

रात्रि के बारह से अधिक बज चुके थे। नभ का गहन आवरण प्रकृति को अपने अंचल में छुपाये प्रशान्त था। वायु की सरसराहट और पत्तों की मर्मर ध्वनि वातावरण को उद्वेलित कर रही थी। झींगुर निर्द्वन्द्व भाव से अपना राग अलाप रहे थे। अनुपमा उस रहस्यमयी रजनी में तनिक भी सो नहीं सकी। अतीत की भूल-भलैयों में घूमता उसका भावयुक्त मन स्मृति के उस प्रांगण में जा पहुँचा, जहाँ उसने पति को विदा किया था। उसने तनिक भी दुर्बलता उस समय दिखाई होती तो रमेन्द्र कभी नहीं जा सकता था। पति के शब्द उसके कानों में गूँज उठे : "यदि तुम्हारे नयन-कोरों में एक भी जल-बिन्दु दिखाई दिया तो मैं नहीं जाऊँगा अनु। भाँड़ में पड़े उन्नति।" अपनी व्यक्तिगत आकांक्षाओं को उसने कठोरता से दबा दिया। उसकी एक दीर्घ निश्वास पति के उन्नति-पथ में सदा के लिये एक दीवार बनकर खड़ी रहेगी। "ओ नारी ! इतनी दुर्बलता न दिखा।" और हृदय में अनन्त संघर्ष तथा मुख पर मृदु मुस्कान लिये उसने रमेन्द्र को विदा दी।

रमेन्द्र ने प्रण किया था कि प्रति तीसरे दिन अनुपमा को स्वयं पत्र लिखेगा व प्रति तीसरे दिन ही अनुपमा को लिखना होगा। अनुपमा नियत दिन, बाहर वृक्ष की छाया तले डाक की प्रतीक्षा करती और यदि कभी दुर्भाग्य से पत्र न आता तो अनुपमा के मन में उद्विग्नता का वह तांडव होता कि निरीह नीरज उन अछूते चुम्बनों की बौछार सहते अकस्मात् सोचने लगता कि आज माँ को क्या हो गया है ? उसका नन्हा

मस्तिष्क उस रहस्य को ढूंढने में असमर्थ रहता।

◇ ◇ ◇

एकाएक अनुपमा को सम्मुख पाकर रमेन्द्र चकित रह गया। आश्चर्य से नयन-कोर खिच गये। कुछ क्षणों के लिये स्तब्ध रह गया। निश्चय नहीं कर सका कि वह स्वप्न है या सत्य। परन्तु नहीं, वह सुप्तावस्था में नहीं है। अविश्वास करने का कोई कारण नहीं, जगतराम ने उसका बिस्तर और बक्स ला रखा था। मन को स्वस्थ करता हुआ बोला : "अनु तुम ? यहाँ ?"

"क्यों ? इस प्रकार क्यों देख रहे हो ? क्या विश्वास नहीं आता ?"

अकुलाते हुए रमेन्द्र बोला : "नहीं अनुपमा, किंतु खबर तो दी होती। एकाएक तुम्हारा उपस्थित हो जाना इन्द्रजाल से कम चमत्कारिक नहीं।"

उलाहने से अनुपमा ने कहा : "आपने तो जैसे पत्र न डालने की सौगन्ध खा ली थी। हारकर यही उपाय सूझा।"—यह कहकर उसने एक चुभती दृष्टि पति पर डाली। रमेन्द्र हँस पड़ा, अनुपमा भी खिल उठी।

अनुपमा आने को तो आ गई, किन्तु यह बन्दी जीवन उसके लिये असह्य हो उठा। रमेन्द्र कभी भी नौ बजे से पहले घर नहीं लौटता। वह समस्त दिन अपने को व्यस्त रखने का प्रयत्न करती थी। एक क्षण भी तो वह व्यर्थ नहीं खोती, किन्तु यह एकाकी जीवन ? किसे सुनाये व्यथा। रमेन्द्र सदा आफिस-कार्य का कोई न कोई बहाना कर देता था। उसकी भावनाएँ तड़प उठीं। यह भी नहीं था कि रमेन्द्र उसका ध्यान नहीं रखता। वह सदैव यत्न करता था कि अनुपमा को पूर्ण विश्राम मिले। परन्तु अनुपमा इसमें एक कृत्रिम आडम्बर का अनुभव करती थी। इस आडम्बर में वह अनन्य प्रेम नहीं था, जो पहले रमेन्द्र को अनुपमा की एक आह पर न्यौछावर होने को प्रेरित करता था। इस चिन्ता में वह क्षीण हो गई। रमेन्द्र ने यह परिवर्तन अनुभव किया। परन्तु क्या

करे वह ? एक दिन बोला : "तुम्हारा स्वास्थ्य बिगड़ रहा है अनु। कहीं घूम ही आया करो। क्या घर से ही चिपटी रहती हो।"

अनुपमा ने असफल मुस्कराने की चेष्टा की : "नहीं मैं तो ठीक हूँ। आपको कार्य से अवकाश ही नहीं। अकेले घूमने में क्या आनन्द है।"

"तुम्हारा कथन तो सत्य है, पर विवश हूँ। पड़ोसी किशोर की पत्नी बड़ी अच्छी है। किशोर से कहूँगा, तुम्हारे पास उसे कभी-कभी भेजा करे।"

अनमनी-सी अनुपमा बोली : "अच्छा।"

किशोर की पत्नी वास्तव में बड़ी चंचल, नटखट और स्नेहशील युवती थी। अनुपमा से बहनापा स्थापित करते उसे देर नहीं लगी। कभी-कभी अनुपमा को बलात् घूमने ले जाती, परन्तु एक दिन तो वह अपने हठ पर अड़ गई : "सत्य ही दीदी, बड़ा सुन्दर चित्र है। देखने चलोगी न ?"

अनुपमा की स्मृति हरी हो आई। विवाह के पश्चात् उसने सदा रमेन्द्र के साथ ही चित्र देखे हैं। एक ठण्डी आह उसके मुख से निकल गई। बोली : "नहीं सविता, मैं चित्र नहीं देखती।"

सविता कब छोड़ने वाली थी : "नहीं दीदी, मैं छोड़ने वाली नहीं, इस अवस्था में यह वैराग्य अच्छा नहीं लगता।"

"नहीं सवि। दिक न कर, मेरा मन नहीं है। तू किशोर बाबू के साथ चली जा।"

"उनकी तो आज रात्रि की ड्यूटी है दीदी, और चित्र का अन्तिम दिवस। नहीं, नहीं, तुम्हें मेरी शपथ दीदी। मेरी अच्छी बहन।"

विवश होकर उसे जाना ही पड़ा। चित्र में उसका ध्यान नहीं जमा। उसके हृदय-पटल पर तो उस चित्र के दृश्य नृत्य कर रहे थे, जिसकी नायिका वह स्वयं थी। परन्तु यह क्या ? वह ठगी-सी रह गई ? अर्ध-विश्राम के समय उसने देखा, कुछ दूरी पर रमेन्द्र एक गौर वर्णा युवती

के साथ बातें करने में मग्न था। हूँ! अब समझी आफिस का कार्य। यह चालाकी मुझसे? क्या समझ रखा है इन्होंने? नारी-सुलभ ईर्ष्या और स्वाभिमान जाग्रत हो उठे। सविता से बोली—'घर चलो सविता!"

"वाह! इतना सुन्दर चित्र छोड़कर?"

"तो तुम ही देखो, मैं जाती हूँ"—रोकते-रोकते अनुपमा हाल से निकल गई। सविता भी अनिच्छा से उसके पीछे भागी। क्या हो गया अनुपमा को, समझ नहीं सकी वह। उसे चित्र छोड़ने का क्षोभ था, परन्तु अनुपमा की व्यथित दशा देखकर वह मौन ही रही।

◇ ◇ ◇
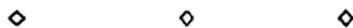
रमेन्द्र ने देखा, अनुपमा अपना बिस्तर तैयार कर रही है। आश्चर्य से पूछा: "कहाँ की तैयारी है? वाह! आई कब और गई कब?"

"बिना बुलाये आई थी बिना कहे जा रही हूँ। आप को क्या?" मान से अनुपमा कह तो गई, परन्तु नयन सजल हो उठे। वाणी रुंध गई। रमेन्द्र पास ही कुर्सी पर बैठता हुआ बोला: "रानी रूठ गई है क्या?"

अनुपमा ने पैंतरा बदला: "किसे चिन्ता है रूठने की?"

"क्यों क्या ऐसा भयंकर अपराध हो गया है?"

"हृदय से पूछ लीजिये न?"

"पहेलियाँ क्या बुझा रही हो, स्पष्ट कहो न।"

अनुपमा ने अब मन नियन्त्रित कर लिया था। वह बीसवीं शताब्दी की नारी थी। स्वाभिमान का मूल्य जानती थी। बोली: "स्पष्ट सुनना चाहते हैं तो सुनिये। पुस्तकों में पढ़ा था कि पुरुष-प्रकृति परिवर्तन-शील है। परन्तु प्रेम के मद में कभी विश्वास नहीं किया था। अब जाना कि वे लेखक मनोविज्ञान के पंडित थे।"

रमेन्द्र समझ गया की अनुपमा कुछ जान गई है। परन्तु वह करें

क्या ? मन के अवरोध करने पर भी वह रोज की ओर ऐसा आकर्षित है कि लौटते नहीं बनता। रोज की एक तीक्ष्ण कटाक्ष-भरी मादक दृष्टि के सम्मुख वह एकदम पराभूत हो जाता है। उसने बात आगे बढ़ाई : "मनोविज्ञान की तो पण्डित तुम भी हो अनु, पर बात मेरी समझ में नहीं आई।" अनुपमा तुनककर बोली : "समझ में क्यों आयेगी। निद्रा का मिथ्या आडम्बर करने वाले को कौन जगाये। आपकी प्रसन्नता ही मेरी प्रसन्नता है। मैं आपके पथ का कंकर नहीं बनना चाहती।" कण्ठावरोध से अनुपमा आगे नहीं बोल सकी। भावों का उच्छ्वास अश्रु बनकर बह निकला। रमेन्द्र कुछ क्षण स्तब्ध-सा रह गया, किंकर्तव्यविमूढ़-सा वह स्वयं अनुपमा को समझाने में असमर्थ था। फिर साहस कर बोला : "देखो अनु, तुम्हारा क्रोध व्यर्थ है। वह मेरे मित्र की बहिन है। तुम्हारे वियोग में, जीवन के एकाकीपन में, यदि मैं उसे कुछ सद्भावना दे बैठा तो मेरा अपराध क्या है ? मैं समझ नहीं पाता।"

अनुपमा का उद्वेग शान्त हो चुका था। स्वाभिमानपूर्ण शब्दों में बोली : "मैंने कब कहा अपराध है, किन्तु पत्नी का प्यार, माँ-बहिन का प्यार नहीं, वह तो पति के प्रेम पर एकाधिकार चाहती है। क्षमा कीजियेगा, यदि मैं आपकी अनुपस्थिति में किसीको सद्भावना दे बैठती तो···।"

"निस्सन्देह मुझे ईर्ष्या न होती।" रमेन्द्र ने एकदम उतर दिया :

"तब तो आप बड़े उदार पति हैं। पर मेरा ऐसा विश्वास नहीं। इस समय मेरा स्वाभिमान मुझे आज्ञा देता है कि मैं आपके पथ से हट जाऊँ। बीसवीं शताब्दी की कृपा से मुझमें इतनी सामर्थ्य है कि मैं आत्मनिर्भर हो सकूँ।"

"ओह ? तो यह अहंकार तुममें भी है।"

"क्यों नहीं ? पुरुष को गर्व है कि नारी उसपर आश्रित है। वर्षों की ठोकरों ने नारी की आँखें खोल दी हैं।"

रमेन्द्र ने देखा कि झगड़ा तूल पकड़ रहा है। दोनों ही एक दूसरे पर तीक्ष्ण प्रहार कर रहे थे। बात टालने को बोला : "विवाद की क्या आवश्यकता है। तुम्हारी इच्छा में मैं बाधक नहीं बनना चाहता। आत्मनिर्भरता की इच्छा ने नारी को उच्छृङ्खल बना दिया है।"

अनुपमा मौन रह गई। रमेन्द्र ने स्वयं निर्णय दे दिया था। उसी दिन संध्या को अनुपमा लौट आई। भावनाओं की समाधि पर निराशा का दीप जलाकर।

रमेन्द्र भाग्य-चक्र की इस क्रीड़ा को समझ नहीं सका। अनुपमा के लौटने पर माता-पिता क्या कहेंगे ? क्यों उसने अनुनय से उसे मना नहीं लिया। परन्तु वह नारी होकर मेरी अवहेलना कर गई तो पुरुष होकर मैं क्यों प्रार्थी बनूँ। वास्तव में अनुपमा का जाना उसे अच्छा नहीं लगा। निश्चय ही वह रोज से कुछ लगाव अनुभव करता था। किन्तु अनुपमा से तो पाँच वर्षीय वैवाहिक जीवन की स्मृतियाँ लिपटी थीं। यौवन के प्रथम प्रहर में जिस प्रेम-प्रतिमा ने, उसके जीवन को रंगीन बनाया था, वह अनुपमा थी। स्मृति-पटल से उसका चित्र हटा देना सहज नहीं था। ज्यों-ज्यों वह उसे विस्मृत करने का प्रयत्न करता वैसे ही उसका सस्मित मुखमण्डल उसके नयनों के सम्मुख नृत्यकर उठता। सोते, जागते, उठते, बैठते अनुपमा की स्मृति उसे तंग करने लगी। कभी-कभी मन की दुर्बलता कहकर वह टालने का प्रयास भी करता था। भोग-विलास की मात्रा बढ़ गई। रोज का सहवास भी बढ़ा। किन्तु न जाने तड़ित् सदृश अतीत स्मृतियाँ उसके हृदय-गगन पर चमत्कृत हो उठतीं; इसी गहन चिन्ता में वह अनमना-सा रहने लगा। एक दिन अवस्था यहाँ तक पहुँची कि उसका सिर दुखने लगा। घुन में बैठे सिर-दर्द की कितनी गोलियाँ उसने खा डालीं पर व्यर्थ। शाम को बाहर जाने की इच्छा भी उसे नहीं हुई। नित्य की भाँति रोज आई। सिर पर हाथ फेरकर पूछा : "क्या है ?"

उसके कोमल हाथों में जैसे शान्ति का सन्देश था। उस सुख को अनुभव करता हुआ रमेन्द्र बोला—"कुछ नहीं सिर में दर्द है।"

"डाक्टर को दिखाया है ?"

"क्या आवश्यकता है ?" रमेन्द्र आँखे बंद किये लेटा रहा और रोज उसके बालों को सहलाती रही। कुछ क्षण पश्चात् रोज बोली—"अच्छा, चलूँ अब ?"

आग्रह से रमेन्द्र ने कहा: "तनिक ठहरो रोज, तुम्हारे कर-स्पर्श में अद्भुत जादू है।"

"नहीं रमन, अब नहीं, मुझे आवश्यक काम है।" और अपने घुँघराले केशों को समीर में लहराती रोज चली गई। रमेन्द्र सतृष्ण नेत्रों से उसे निहारता रहा। परन्तु तभी विचार आया। "क्या अनुपमा इस अवस्था में मुझे कभी अकेले छोड़ सकती ?" उसे वह दिवस याद हो आये जब उसकी रुग्णावस्था में अनुपमा ने दिन-रात एक कर दिया था। कितनी निष्काम भावना थी। संध्या को वह नित्य-प्रति आँचल पसार अपने सोहाग की भिक्षा माँगा करती थी। पत्नी का प्रेम सकाम होते हुए भी कितना निष्काम है।

जगतराम बाजार से लौटा नहीं था। लेटे-लेटे भी रमेन्द्र के मानस में अशान्ति थी। चैन न था। सम्भव है वायु-सेवन से सिर हलका हो जाये, कोट पहनकर बाहर निकल पड़ा। किन्तु वाह्य प्रकृति मानसिक उद्वेग को शांत करने में असमर्थ थी।

संध्या का अंधकार सुदूर स्थित द्रुमावली को अपने अंक से छिपाता आ रहा था। वातावरण में कुछ धुंधलापन था। समीर में रजनी की शीतलता का संदेश प्रक्षिप्त था। रमेन्द्र लौट पड़ा। कुछ आगे दो छाया-मूर्तियाँ बढ़ रही थीं। पुरुष-मूर्ति बोली: "तुमने उस पंजाबी अफसर को खूब उल्लू बना रखा है ? हाँ, क्या नाम है उसका ? मैं तो भूल ही गया।"

दूसरी छाया-मूर्ति ने उत्तर दिया : "रमेन्द्र ।"

अपना नाम सुनकर रमेन्द्र चौंका । कौन इस प्रशांत वातावरण में उसके नाम की प्रतिध्वनि कर रहा है । एक अज्ञात आकांक्षा उसके हृदय में उस गुप्त बात को सुनने के लिये जाग्रत हो उठी ।

"सुनते हो, उसने मेरे लिये अपनी पत्नी तक को अप्रसन्न कर दिया ।"

"ओह । यहाँ तक ? परन्तु तुम्हारा शाम का समय तो उसके लिये रिजर्व होता है न ?"

"आज वह कुछ अस्वस्थ है ।"

युवक हँसा : "तभी तो यह सुन्दर समय मेरे भाग्य में आया ।"

"नहीं डियर, वह तो सब आडम्बर है, भाई की आज्ञा को मैं टाल नहीं सकती । नहीं तो तुम्हें छोड़कर···। और न तो महीने की दो साड़ियाँ ही सही ।"

रमेन्द्र के हृदय-मंच से मानो आवरण हट गया । एक झटके में ही मोह की यवनिका हट गई । "ओह ! इसी छलनामयी के लिये उसने अनुपमा का निरादर किया । उसके मन में आया कि आगे बढ़कर उस युवक को चेतावनी दे कि जो एक की नहीं हो सकती, वह किसी-की नहीं हो सकती । इसी चुड़ैल के लिये उसने अपना स्वर्णिम संसार राख कर डाला । वह उसकी नहीं, केवल उसके धन की प्यासी थी । इसी उधेड़-बुन में वह छाया-मूर्तियाँ दूर हट गईं । रमेन्द्र जब घर पहुँचा तो लड़खड़ा रहा था । मानसिक विक्षोभ ने उसके मस्तिष्क को अस्थिर कर दिया था । मस्तिष्क में इतनी उथल-पुथल थी कि उसे विकृत होने का भय हुआ । वह विश्राम चाहता था । उसने अनुचर को कहा कि वह सोयेगा । और खायेगा कुछ नहीं । जगतराम स्वामी के विषय में चिन्तित हो गया ।

रात्रि आधी से अधिक जा चुकी थी । जगतराग चौंककर उठा ।

कौन उसे पुकार रहा है ? रमेन्द्र की ध्वनि थी। हड़बड़ाकर उठ भागा। रमेन्द्र व्याकुल होकर तड़प रहा था। आँखें चढ़ी हुई। मुख लाल।

जगतराम ने पुकारा : "क्या है बाबू जी ?"

"बहुत पीड़ा है उफ ! यहाँ वक्षस्थल में।"

"डाक्टर ले आऊँ ?"

रमेन्द्र ने सिर हिलाकर अनुमति दी। लगभग दस मिनटों में जगतराम डाक्टर को लेकर लौट आया। निरीक्षण के पश्चात् डाक्टर ने कहा : "कुछ नहीं, तनिक ठण्ड लग गई है। चिन्ता की कोई बात नहीं।" रमेन्द्र से उसने पूर्ण विश्राम लेने और शीत से सुरक्षित रहने को बताया। जगतराम ने डाक्टर से औषधि लेकर चलते-चलते पूछा : "मालिक को भय तो नहीं डाक्टर साहब ?"

"नियम से औषधि देते जाओ। घबराने की बात नहीं। निमोनिया है। छाती को हवा लग गई है। गरम पानी का सेंक रखो। अवहेलना नहीं होनी चाहिये। समझे ?"

"जी, आप निश्चिन्त रहिये। प्रातः मैं आपकी सेवा में उपस्थित होकर सूचना दूँगा।"

रमेन्द्र बीस दिन अस्वस्थ रहा और जगतराम ने तन-मन से उसकी शुश्रुषा की। कई बार उसने पूछा : "मालकिन को सूचित कर दूँ मालिक।" पर रमेन्द्र नहीं माना। इन एकाकी दिनों में जगतराम ही उसका संगी था। रोज से वह फिर नहीं बोला। एक-दो बार रोज आई भी तो उसने बाहर से ही लौटा दिया। जगतराम स्वामी के भावों को समझता हुआ भी कुछ कर सकने में असमर्थ था। उसे ज्ञात था कि रमेन्द्र की औषधि कहाँ है। पर रमेन्द्र के हठ के सम्मुख पराजित था। काश ! अनुपमा एक बार आ जाती। किन्तु सबसे क्षुब्ध जगतराम

ने रमेन्द्र को उस दिन देखा, जिस दिन अनुपमा ने उसके भेजे हुए रुपयों को लौटा दिया। रमेन्द्र की स्मृतियों में सोया प्यार जाग उठा। यह तो स्पष्ट चैलेंज था। एक दिन बैठे-बैठे जगतराम से कहा : "एक मास की छुट्टी ले लूँ जगतराम।"

जगतराम खिल उठा। चहककर बोला : "इससे अच्छी क्या बात हो सकती है।" परन्तु यह पूछने का साहस न हुआ कि इस मास में आपका कार्य-क्रम क्या होगा। क्योंकि इन दिनों घर के नाम से ही रमेन्द्र को चिढ़ थी।

◇ ◇ ◇

सास-ससुर के अवरोध करने पर भी अनुपमा ने एक विद्यालय में पढ़ाना आरम्भ कर दिया। धन के लिये नहीं, मन के लिये। रमेन्द्र को वह छोड़ तो आई, पर एक अज्ञात आशंका सदैव मन को अस्थिर किये रहती। विद्यालय में भी अपने भाग का कार्य सम्पन्न न कर पाती। रह-रहकर अन्तस्तल में पीड़ा की एक हूक-सी उठती। उसका साहस न जाने कहाँ चला गया था। यह सत्य था कि वह एक शिक्षित नारी थी। अपने और अपने बच्चे के लिये जुटाने की सामर्थ्य उसमें थी। परन्तु संसार में यही सब कुछ नहीं है। जीवन में कुछ और भी है। कर्म के मरुस्थल में हरियाली का वह कोना जो जीवन को मधुर बनाता है, नीरस जीवन में सरसता का सुनहला गीत सुनाता है, अंधकारपूर्ण रजनी में प्रकाश की धीमी किरण दिखाने वाला प्रेम अब उसके लिये स्वप्न-मात्र था। बीते हुए सुन्दर दिनों की स्मृति अब उसके लिये पीड़ा का आभासमात्र थी। उद्वेग का एक झोंका उसके हृदय में अस्थिरता की झंझा चला जाता। तब उसके लिये सँभलना कठिन हो जाता।

विद्यालय से लौटकर उसने भोजन नहीं किया। अर्धचेतन-सी उसने अपने को चारपाई पर डाल दिया। पलकें मुँदी थीं। वर्ण पीत और

श्वास तेज़ी से चल रहा था। मंजु दौड़ी आई : "भाभी, भाभी !"

अनुपमा बोल न सकी। उन्मीलित नयनों से उसने मंजु को निहारा। पीड़ा जैसे उन दो नयनों में प्रतिबिम्बित हो उठी। मंजु विचलित हो उठी : "कैसा जी है भाभी।"

अनुपमा ने कराहकर दीर्घ श्वास ली और मंजु के हाथ को हृदय के पास दबाकर बोली—"मंजु ?"

"कहो भी !"

"मंजु। ओह, नारी बड़ी दुर्बल है बहिन ?" कठिनता से अनुपमा ने कहा।

"कैसे बताऊँ मंजु। मैंने उस समय उन्हें कहा था—बीसवीं शताब्दी ने नारी को आत्मनिर्भर बना दिया है—अब वह पुरुष के ऊपर आश्रित रहना नहीं चाहती। किन्तु नहीं, हृदय कचोट उठता है। यौवन के प्रथम वसंत में जिसे जीवन का प्रेम अर्पित किया था, भावना के मृदुल प्रसून जिस आराध्य के चरणों में चढ़ाये थे···आह ! बड़ा दुख है मंजु ! पुरुष पाषाण है। वह नारी-हृदय को समझने का प्रयत्न नहीं करता।"

उसके विश्रृंखल केश-पाश को सुलझाती मंजु बोली : "पिता जी उन्हें स्वयं लेने जायेंगे भाभी। उन्होंने केवल तुम्हारे लिये उनसे सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया। पत्र तक वह नहीं लिखते। कहते हैं, 'गोपा बिना गौतम भी ग्राह्य नहीं मुझको', पर आज मैं उनसे कहूँगी। अब तो उठो। हाथ-मुँह धोओ। नीरज आयेगा तो घबरायेगा। नहीं तो मैं माँ को बुलाऊँगी।"

सास का नाम सुन अनुपमा उठ बैठी। मंजु तो उसकी सहोदरा-सी ननद है। किन्तु सास के सम्मुख पति के लिये रोना—छिः-छिः कैसी लज्जा की बात है।

परन्तु यह क्या ! छन, छन, छन···एक टाँगा द्वार पर रुका।

दोनों ने उत्सुकता से देखा। दुर्बल, क्षीणकाय रमेन्द्र जगतराम के सहारे टाँगे से उतर रहा था। अनुपमा के नेत्र-कोण कुछ हँसे, किन्तु तत्क्षण वह धड़ाम से पृथ्वी पर गिरी। मंजु चीत्कार कर उठी। रमेन्द्र शीघ्रता से बढ़ा। किन्तु अनुपमा निश्चेष्ट थी। व्याकुलता से रमेन्द्र बोला : "मैं आ गया अनु···अनु, बोलो तो, अब नहीं जाऊँगा ! तेरी सौगन्ध, तेरी शपथ !" पागलों की भाँति रमेन्द्र प्रलाप कर रहा था। मंजु के अश्रु अनुपमा पर गिर रहे थे।

विवशता

"बापू !"

घीसू ने पीछे घूमकर देखा, उसकी पुत्री पारो उसे पुकार रही है। मस्तक से पसीना पोंछते हुए वह बोला : "क्या है पारो ?"

पारो ने उत्तर दिया : "धानू के लिये दूध नहीं है और वह ज्वर में हाथ-पाँव झटक रहा है। अम्मा ने बुलाया है।"

आप कहेंगे पारो और धानू भी कोई नाम है ? पारो का नाम तो शायद पार्वती है और धानू का ध्यानचंद। पर गाँव की परिचित पड़ोसी-मंडली उन्हें इन्हीं नामों से बुलाती है।

घीसू ने निराश नेत्रों से पुत्री को देखा। तब तक उसके हृदय वेग को प्रदर्शित करने के लिये और स्वेद-बिन्दु उसके मस्तक पर झलकने लगे थे। उन्हें पोंछते हुए वह और भी वेग से घास काटने लगा। उसके शरीर पर छोटी धोती के अतिरिक्त अन्य कोई वस्त्र न था। हाँ, सिर को धूप से बचाने के लिये रूमालनुमा अँगोछा अवश्य था। धूप में उसका काला रंग चमक रहा था और समस्त शरीर पसीने से तर था। पारो जब उत्तर की प्रतीक्षा करते-करते थक गई तो फिर बोली : "बापू अम्मा ने बुलाया है।"

पारो के शब्दों ने उसके एकांत चिंतन में फिर बाधा डाली। खीझकर बोला : "तू घर जा पारो, अम्मा को तो बुलाने के अतिरिक्त कोई काम नहीं। पैसे न होंगे तो दूध कहाँ से आयेगा, दवाई कैसे आयेगी; जा घर।"

पारो रुआँसी होकर लौट गई। घीसू फिर अपने काम में जुट गया। आज उसका रम्बा मशीन की भाँति चल रहा था। और न जाने वह कितनी देर घास काटता रहता किंतु घटते तापक्रम ने उसे चेतावनी दी कि दिन ढलने में अब अधिक विलम्ब नहीं। उसने घास को देखा, नित्य की अपेक्षा आज दुगनी थी। अपने परिश्रम को देख उसका मुर्झाया चेहरा खिल उठा। उसने टाट की झोली में घास को भरा और बाज़ार की ओर चला। उसे प्रसन्नता थी कि आज अधिक पैसे मिलेंगे और धानू के लिये वह दूध और दवाई ले जा सकेगा। कुछ पैसे इस प्रकार बन जायें तो पारो का कुर्ता भी बन जाये परन्तु सुलक्खी का दुपट्टा तो बिल्कुल फटा है। और फटी तो मेरी धोती भी है पर अभी कुछ दिन चल जायेगी। कल्पना की इन तरंगों में बहता वह शहर की सीमा पर पहुँच गया।

शहर से कुछ हटकर घरों की लम्बी पंक्ति है। उन्हें मकान कह लीजिये तो, कोठियाँ कह लीजिये तो। मकान इसलिये कि उनका घेरा मकान के बराबर है और कोठियाँ इसलिये कि उनके आगे फुलवारियाँ भी लगी हैं। उन घरों में अधिकतर मध्यम वर्गीय डाक्टर, वकील, मास्टर इत्यादि रहते हैं। जिन्हें कदाचित् यह ध्यान रहता है कि शुद्ध वायु का सेवन स्वास्थ्य के लिये लाभकारी है। यह लोग यह भी सोचते हैं कि इस महँगाई के युग में और न हो पर शुद्ध दूध तो मिलना ही चाहिये। इसलिये स्थान का कष्ट अनुभव करते हुए भी उन्होंने गायें-भैंसे रखी हुई हैं।

घीसू उस सड़क से जा रहा था तो एक मास्टर साहब ने पुकारा—

"घीसू, आज तो खूब घास लाये।" बोझा सिर पर उठाये तनिक रुककर घीसू ने पूछा : "लोगे बाबू जी ?"

"लेंगे क्यों नहीं, कितने पैसे ?"

"यह तो बाबू जी आप स्वयं देख लें। नित्य से दोगुना बोझा है। पूरी धूपमार की है।"

"तो आठ आने से अधिक क्या लोगे ?"

घीसू ने आर्द्र नेत्रों से देखा। सारी दिहाड़ी का परिश्रम केवल आठ आने में बिक रहा था। दीन होकर बोला : "नहीं बाबू जी, आठ आने तो प्रतिदिन की कमाई है। फिर आज तो भगवान की दया है।"

यह कह उसने आगे बढ़ने का उपक्रम किया किन्तु मास्टर साहब उड़ती चिड़िया पहचानते थे। बाज़ार में इतनी घास एक रुपये से कम न मिलती, हँसकर बोले : "अरे, तो हमारी कौन दो बात हैं। आ जाओ, चलो बारह आने सही।"

घीसू एकदम गँवार था। सीधी-कठोर बातों को तो वह समझ सकता था। पर शहरियों की इन गोलमाल लच्छेदार बातों के सम्मुख तो वह झट परास्त हो जाता है। फिर इस समय उसे शीघ्रता थी। गोदी में धानू का सिर रखे सुलक्खी की मूर्ति नेत्रों के सम्मुख घूम गई। आत्मसमर्पण करते हुए बोला : "अच्छा चलिये, आपकी ही हो जाये।"

तबेले में घास झाड़ता हुआ वह बोला : "देख लीजिये कितना है, सच कहता हूँ, बाज़ार में सवा रुपये से कम न मिले", और पैसे लेने के लिये उसने हाथ बढ़ाया। मास्टर साहब बोले : "तनिक साफ कर देना इसे, सूखी घास खाने से जानवर बीमार पड़ जाते हैं।"

विवशता से वह घास को छोटी-सी छड़ी से छाँटने लगा। परन्तु उसका मन न जाने कहाँ विचरण रहा था। भाई के लिये दूध और दवाई का सन्देश देती हुई पारो का चित्र उसे विचलित कर रहा था।

घास छाँटकर उसने फिर प्रार्थी नेत्रों से मास्टर साहब को देखा । पर अब की वे बोले : "लड़का तनिक नोट तुड़वाने गया है । परन्तु घीसू यार, तब तक तू गाय को घास डाल दे । नौकर कम्बख्त को भी आज ही बीमार होना था ।"

घीसू का हृदय तड़प उठा । वह सोचने लगा, शायद मास्टर के हृदय नाम की कोई वस्तु नहीं । आतुरता से बोला : "मुझे आज शीघ्र जाना है बाबू जी । मेरा बच्चा बीमार है ।"

"न जाने बच्चे कोई पैसा जेब में रहने नहीं देते । तुम फुर्ती से तनिक घास डाल दो । क्या करूँ गाय रखी तो है पर इस महँगे युग में पशु रखना और दीवाला निकलवाना एक बराबर है । फिर सोचते हैं; कम से कम बच्चों को शुद्ध दूध तो मिलना ही चाहिये ।"

गाय को घास डालते समय घीसू सोचने लगा, ठीक है, शुद्ध दूध तो मिलना ही चाहिये बच्चों को । और एक व्यंग्यपूर्ण मुस्कान उसके मुख पर खेल गई । इतने में पैसे आ गये । गिनकर उसकी हथेली पर रखते हुए मास्टर साहब बोले : "ठीक है गिन लो ।"

"ठीक है, भगवान आपका भला करें ।"

और वह विद्युत् गति से शहर की ओर बढ़ा ।

उस समय संध्या सुन्दरी, प्रकृति को अपनी रक्तिम आभा दिखला-कर आकर्षित करना चाहती थी । परन्तु उसकी सहेली रजनी वाला भी सितारों जड़ी चुनरी के घूँघट की आड़ से उसको परास्त करने का प्रयत्न कर रही थी । घीसू ने अस्ताचलगामी सूर्य को देखा तथा अपनी चाल और भी तेज कर ली । परन्तु जब वह डाक्टर की दुकान पर पहुँचा तो डाक्टर किसी रोगी को देखने बाहर गये हुए थे । निराश-सा वह बैठ गया और प्रतीक्षा करने लगा । डाक्टर आये तो बोला : "अब तो दया हो जाये डाक्टर साहब ?" डाक्टर दयालु और सज्जन थे । पूछा : "क्या बात है ?"

दैन्य भाव से घीसू बोला : "मेरा बच्चा बीमार है।"

"क्या कष्ट है ?"

"खाँसी, ज्वर हैं और छाती में पीड़ा है।"

"कब से है ?"

"कल प्रातःकाल से"

डाक्टर खीझकर बोले : "और दवा लेने आज आये हो। तुम लोग बच्चों के विषय में बड़े असावधान रहते हो। गरम वस्त्र तो ठीक से पहनाते नहीं।"

घीसू के मन में आया कि कहे, गरम कपड़ा तो मिलता नहीं पहनायें कहाँ से—पर उसने मौन रहना ही उचित समझा। डाक्टर ने नुस्खा लिखकर सहायक चिकित्सक को दिया और घीसू से बोले : "देखो, बच्चे को निमोनिया है। दवाई दे देना और रात को सावधानी की विशेष आवश्यकता है। बच्चे को शीत न लगने पाये। फिर प्रातःकाल मुझे लाकर दिखाना। समझे ?"

घीसू ने सिर हिलाकर समझाया कि वह समझ गया है। तभी उस दुकान पर लगे १०० कैंडल पावर के विद्युत् दीपक के प्रकाश से वह स्थान जगमगा उठा। उसने देखा, सत्य ही रजनी बाला सन्ध्या सुन्दरी को पराजित कर क्षितिज के उस पार से झाँक रही थी। उसी समय उसके हाथ में दवाई की शीशी थमा दी गई। डाक्टर को आशीर्वाद देता वह वहाँ से चल पड़ा। मार्ग में उसने केवल एक पाव दूध खरीदा और कहीं एक क्षण के लिये भी नहीं रुका। उसने अनुभव किया कि वास्तव में उसे विलम्ब हो गया है। क्यों कि कोई भी उसका साथी नित्य की भाँति उसे मार्ग में नहीं मिला। वह चिन्तित-सा भगवान का नाम लेता तथा दुर्गा मैया की मनौतियाँ मानता घर पहुँचा। परन्तु वह स्तब्ध रह गया। सदा की भाँति पारो ने दौड़कर स्वागत नहीं किया। आँगन में चूल्हा नहीं जला था। एक अद्भुत प्रकार की शून्यता सर्वत्र व्याप्त

हो रही थी। तभी भीतर से आती धीमी चीत्कार की ध्वनि और सिस-कियाँ सुनाई दीं। रुँधे कंठ से पुकारा : "पारो !"

पारो द्वार पर आ चीत्कार करती हुई बोली : "बापू, धानू !"

घीसू ने आगे नहीं सुना। शीशी भूमि पर गिर पड़ी। दूध का गिलास हाथ से छूट गया। घर भर में कोहराम मच गया। पलक मारते-मारते सारा गाँव इकट्ठा हो गया। कोई उसे ढारस देता था। कोई समवेदना के अश्रु बहा रहा था। एक वृद्ध बोला : "इतना मन छोटा न करो घीसू. कर्तार की होनी होकर ही रहती है। घर वाली को धीरज बँधाओ।"

पर घीसू को कल कहाँ। तड़पकर बोला : "हाय ! वह बिना दवाई के मर गया। मृत्यु तो भगवान् के वश है पर दवाई तो पी जाता, हवस तो न रहती कि बिना उपचार के मर गया।"

इसी प्रकार रोते-रोते रात व्यतीत हुई और प्रातः धानू की अन्त्येष्टि-क्रिया कर दी गई। एक खद्दर का डेढ़ गज़ का टुकड़ा, जो शायद कभी सुलक्खी ने कमीज़ के लिये रखा था; कफन के नाम से उसी पर डाल दिया गया।

श्मशान-भूमि से आकर कुछ देर सब निस्तब्ध-से बैठे रहे। तब एकाएक घीसू ने उठकर अपना रम्बा ढूँढना आरम्भ किया।

पारो ने पूछा : "क्या ढूंढ रहे हो बापू ?"

"अपना जीवन-दाता।"

"क्या ?" सुलक्खी ने आश्चर्य से पूछा।

"रम्बा, घास खोदने जाऊँगा।"

"और आज न जाओ तो···?"

"रोटी भी खानी है सुलक्खी"···और वह रम्बा लेकर चला गया। सुलक्खी अपनी विवशता के विषय में सोचने लगी।

रिक्शावाला

सन्ध्या के छः बजे थे। किन्तु जून मास की सन्ध्या ! आप स्वयं अनुमान कर सकते हैं। दिन भर के परिश्रम से श्रांत हो, भगवान अंशुमाली प्रतीची के अंक में आश्रय लेने जा रहे थे। वृक्ष और पौधे सन्ध्या के स्वागत में कुछ आकुल-आतुर डोलने लगे थे। सड़कें दिन भर की उष्णता को रोग सदृश त्याग रही थीं। सिर पर चाहे सूर्य की गर्मी न हो पर नींचे से निकलने वाली भड़ास तो वास्तव में बेहाल किये डालती थी। बरबस उमड़ने वाले अश्रुओं के समान पसीना बहकर वस्त्रों को भिगो रहा था। ऐसे समय में मैं व मेरी पत्नी शोभा, अपनी तीन वर्षीया बच्ची नीलम को अंगुली थमाये कूपर रोड जा रहे थे। नीलम टाँगे पर चढ़ने के लिये हठ कर रही थी। मैं उसे पुचकार रहा था। दो-एक टाँगे पास से भी निकल गये। परन्तु वे कमबख्त एक रुपये से कम पर बात ही नहीं करते थे। शोभा ने सफेद रूमाल से स्वेद-बिन्दु पोंछते हुए कहा : "टाँगा अच्छा नहीं, टूटा हुआ है, हम रिक्शा लेंगे।"

प्रसन्न हो नीलू चहक उठी : "हाँ हम रक्छा लेंगे, साइकल वाली रिक्छा।"

शोभा ने साड़ी का अंचल हिलाते हुए कहा : "उफ, गर्मी के मारे

नाकों दम है। दो-एक मिनट खड़े होकर रिक्शा की प्रतीक्षा ही कर लें।"

मैं झुँझलाकर बोला : "हाँ, कर लो प्रतीक्षा। सिनेमा आरम्भ होने में पन्द्रह मिनट शेष हैं।"

तभी सामने से एक रिक्शा आती दखाई दी। नीलम ने चहककर पुकारा : "रिक्छावाले ! ओ रिक्छावाले !"

नीलम का आवाहन सुन जब रिक्शावाला न मुड़ा तो मैंने स्वयं उच्च स्वर से पुकारा : "रिक्शावाले।"

शायद उसे बच्चे पर विश्वास नहीं हुआ था। परन्तु मेरे पुकारने पर वह निकट आ गया। मस्तक पर बिखरे स्वेद-बिन्दु कुरते की बाँह से पोछता हुआ बोला : "कहाँ जाना बाबू जी ?"

"रीजेंट चलोगे ?"

"जाना तो है, बाबू जी।"

"कितने पैसे ?"

"छः आने।"

तब तक नीलम उछलकर रिक्शा पर चढ़ बैठी थी। मैं बोला : "छः आने ? चार आने तो सारा संसार लेता है। तुम लोगों को अधिक पैसे माँगने का स्वभाव हो गया है। चार आने लेने हों तो चलो।"

रिक्शा वाले ने विवश नेत्रों से मेरी ओर देखा : 'अच्छा ! चलिये। आप हमारे परिश्रम का मूल्य नहीं आँकते कभी।"

हम तीनों बैठ गये। रिक्शा तीव्र गति से भागने लगी। रिक्शावाला कभी कुरते से पसीना पोंछ लेता। शोभा कभी साड़ी के अंचल से हवा कर लेती। और नन्हीं नीलम इसी चाव में थी कि वह रिक्शा पर बैठ सिनेमा जा रही है।

मानिये न मानिये। रिक्शा पर चढ़ने वाले भी अपनी शान कुछ कम नहीं मानते, चाहे वे मोटर-टाँगेवालों से अपने को कुछ नीचा समझें। पर पैदल चलने वालों से वे अपने को कुछ श्रेष्ठ ही समझते हैं। कुछ

गौरवपूर्ण नेत्रों से वे देखा करते हैं कि कोई रिक्शा पर बैठे उन्हें निहारे। परन्तु कोई नहीं समझता कि यह एक ऐसा घृणित अत्याचार है जिसने मानव को मानव से पशु बना दिया है। और इस नृशंसता का उत्तरदायी भी स्वयं मनुष्य है।

वृक्षों, मकानों, दुकानों और बागों को पीछे छोड़ती रिक्शा भागी जा रही थी। कभी-कभी यूं लगता कि अब टकराई, अब टकराई। पर वह बड़ी चुस्ती से चलाता जा रहा था। एकाएक दुर्घटना होते-होते बची। एक ओर टाँगा, दूसरी ओर मोटर, पर उसने इस सफाई से रिक्शा को पटरी से नीचे उतारा कि मैं चकित रह गया। किन्तु एक गढ़ा जो आया तो रिक्शा उछल पड़ी, मेरा रंग उड़ गया। नीलम मेरे साथ चिमट गई और शोभा ने दृढ़ता से गाड़ी को पकड़ लिया। पर रिक्शा उल्टी नहीं। वह वैसे ही निधड़क चला रहा था। मुझसे न रहा गया, यह कैसा मनुष्य है, हमारे प्राणों की चिन्ता किये बिना ही चला जा रहा है। डाँटकर बोला : "ध्यान से क्यों नहीं चलाते। देखते नहीं, बच्चों का साथ है। हड्डी-पसली टूटेगी तो हमारी टूटेगी; तुम्हारा क्या जायेगा!"

सिर झुकाये वह बोला : "कोई भय की बात नहीं बाबू जी। मुझे भी तो रिक्शा उलटने का भय है। मैं भी तो बच्चों वाला आदमी हूँ।"

परन्तु उसका यह विनीत उत्तर मुझे सन्तुष्ट न कर सका। कुछ और तीव्र शब्दों में बोला : "तुम लोगों को अपने पैसे की गर्ज है।"

मेरे यह शब्द सुनकर वह तनिक खीझकर बोला : "बरसों की ठोकरों के पश्चात् यह तथ्य समझा हूँ बाबू जी, कि पैसा ही सब कुछ है। प्रातः से लेकर रात तक चार-छः आने के लिये भटकते हैं, गालियाँ खाते हैं। किस लिये पेट और पैसे के लिये।"

यह कहते-कहते उसका स्वर भारी हो गया। यूं लगा जैसे उसने कुर्ते की बाँह से आँसू पोंछे हों। उसकी यह वक्तृता मुझे अच्छी नहीं

लगी। पर स्त्रियों को तो आप जानते ही हैं कि उनका हृदय तो करुणा का स्रोत होता है। लगी इधर-उधर की पूछने।

दूसरी ओर मैं सोच रहा था कि वास्तव में इस मनुष्य का कथन सत्य है। धनियों के संसार में जो दोपहर कहर का समय होती है, उसी कड़कती दोपहरी में भी यह रिक्शा चलाता है, सवारियों को हाँक लगाता फिरता है। जो संध्या लोगों के मनोरंजन व मस्तिष्क को विश्राम देने का समय होती है, वह इसके लिये चिन्ता का सन्देश लाती है। उस समय भी मन मारे रिक्शा का भार ढोते हुए यह सोचता है कि बच्चों के भोजन के लिये पैसे बने कि नहीं। तनिक विश्राम नहीं, तनिक मनोरंजन नहीं।

वह मेरी पत्नी से कह रहा था : "पाकिस्तान में मेरे घर के नौ प्राणी मृत्यु का ग्रास बने। उनमें मेरी पत्नी और दो बच्चे थे। मैं तथा मेरे अन्य चार बच्चे सौभाग्य से, उस डायन की दृष्टि से बच गये। सौभाग्य ? सचमुच उस समय मैंने सौभाग्य ही समझा था। नहीं जानता था कि मनुष्य में प्राण रखने का मोह इतना प्रबल है। क्यों ? परन्तु अब सोचता हूँ, संसार में मेरे सदृश दुर्भाग्यशाली व्यक्ति कोई नहीं। माँ और भोजन के अभाव में बच्चे बिलखते हैं। उनका करुण रूप देख मेरे हृदय पर बाण लगते हैं। एक दिन सोचा कि आत्मघात करके, हृदय को छलनी करने वाले इन दुःखों से मुक्ति प्राप्त कर लूँ। रात्रि के अन्धकार को चीरती एक मोटर तीव्रगति से बढ़ी आ रही थी। मैं फुर्ती से आगे बढ़ा और सड़क के बीच चित्त लेट गया। वह मेरे ऊपर से निकल गई। परन्तु पापी प्राण नहीं निकले। यह घाव देखिये।" और उसने बाजू पर लगा छः इंच लम्बा घाव दिखाया : "चार महीने अस्पताल रहा। कई बार डाक्टर ने अवस्था नाजुक होने की सूचना दी। पर मेरे प्राण तो कुलिश से भी कठोर निकले। तब यह रहस्य जाना कि जीवन-तन्तु को चलाने वाली कोई अन्य शक्ति है। तब

उसीके भरोसे; बच्चों का पेट पालने के लिये मैंने इस गाड़ी का आश्रय लिया।"

अब पुल की चढ़ाई आ गई थी। वह अपनी करुण कथा समाप्त कर चुका था। अतः गद्दी से उतर पाँव-पाँव पूर्ण शक्ति से वह रिक्शा को ऊपर चढ़ाने का प्रयत्न करने लगा। पसीना और भी वेग से उसके शरीर से बहने लगा। मेरी मानवता भी जाग्रत हो उठी थी। छलांग मारकर उतर बैठा और साथ-साथ चलने लगा। वह बराबर बैठने को कहता रहा।

मैं वास्तव में उससे प्रभावित हो गया था। थोड़ी देर पश्चात् मैंने फिर पूछने का साहस किया: "आज कितने पैसे बनाये हैं?"

सिर झुकाये उसने उत्तर दिया: "जी तीन रुपये सात आने। दो रुपया तो रिक्शा का मालिक लेगा।"

तभी हमारा निश्चित स्थान आ गया। मैंने बटुए में से छः आने निकाल उसे दे दिये। आश्चर्य-चकित-सा वह बोला: "यह तो छः आने हैं, आपने तो चार आने किये हैं बाबू जी!"

लज्जित हो मैंने कहा: "नहीं, यही तुम्हारा अधिकार है। वास्तव में यह भी कम है। तुम्हारे परिश्रम का पूरा मूल्य नहीं।"

"भगवान आपको सुखी रखे।"

आशीर्वाद देकर वह चला गया। हम सिनेमा भवन के भीतर प्रवेश करने लगे तो दूर से उस रिक्शावाले की ध्वनि सुनाई दी—"स्टेशन, स्टेशन, दो आने सवारी, स्टेशन दो आने सवारी!"

पथ-निर्देश

"कमरा नम्बर चार !" मंजु के हाथ में औषधि का ग्लास थमाकर दूसरी नर्स बोली।

मंजु नये रोगी को देखने की उत्कंठा से आगे बढ़ी। एक नर्स का जीवन क्या है। प्रत्येक प्रकार के रोगियों की निर्द्वन्द्व भाव से शुश्रुषा करना; कोई भी आत्मीय नहीं, फिर भी एक अद्भुत आत्मीयता से सबको अपनी सेवाएँ अर्पित करना। मंजु ने अनमनी-सी हो अतीत को झाँका। एक दीर्घ निश्वास ली उसने। किन्तु अब तो इसीमें उसे सुख अनुभव होता था। यन्त्र-चालित-सी वह कार्य में व्यस्त रहती, फिरहरी-सी घूम-घूमकर डाक्टरों को सहयोग देती। उसका सेवा-व्रत सराहनीय था। कर्त्तव्य-परायणता में उसके निष्पक्ष भाव ने उसे शीघ्र ही सर्वप्रिय बना दिया था।

नवीन रोगी सैनिक था। अपने ही में मग्न वह खुली खिड़की से शून्य को देख रहा था। उसका उज्ज्वल वर्ण, उन्नत ललाट, उसकी प्रतिभा का परिचय दे रहे थे। मानसिक क्षोभ से नसें कुछ तन गई थीं। कुछ लटें मस्तक पर बिखर आई थीं। धीमे से मंजु ने पुकारा-
"दवा पी लो।"

चौंककर रोगी ने देखा, एक सौम्य प्रतिमा, पवित्रता के अलोक-सी उज्ज्वल। उसने शान्त भाव से दवा ले ली। नर्स पुतली की भाँति घूमकर चली गई। रोगी निष्पलक नेत्रों से उसकी गति का अनुसरण करने लगा। ओझल हो जाने पर उसने दृष्टि को फेर लिया। किन्तु वह शान्त मुख-मण्डल उसके नयनों के संसार से दूर नहीं जाना चाहता था। वह बार-बार मन को संयत करने लगा। वह सैनिक है, मर्यादा का उल्लंघन करना उसके लिये उचित नहीं।

फिर तो उसकी समस्त दिनचर्या का उत्तरदायित्व मंजु पर आ पड़ा। समय पर तापमान देखना, दवा इत्यादि देना सब! मंजु जिस सतर्कता से उसकी परिचर्या करती, उसे देख वह मुग्ध हो जाता। उसकी सौम्य मुख-मुद्रा के समक्ष सैनिक की चंचलता पराजित हो जाती। कई बार तो वह मंजु को पीछे से पुकार लेता : "नर्स !"

मंजु लौट आती और वह निर्निमेष नयनों से देखकर कहता : "कुछ नहीं जाओ।"

मंजु तनिक क्रोध प्रदर्शित कर चल पड़ती। विजय अब ठीक हो चला था। घुड़सवारी करते उसकी टाँग टूट गई थी। डाक्टर ने कहा था : "केवल एक सप्ताह अस्पताल में और।" विजय ने सोचा ठीक तो है, किन्तु मंजु का अभाव? उसने अनुभव किया कि वह अपने हृदय पर से नियन्त्रण खो बैठा है। वह मन को समझाता कि वह एक साधारण नर्स है और वह एक उच्च वर्गीय अफसर। आकाश और भूमि का कैसा आकर्षण। मंजु के आने पर वह मुख फेर लेता। किन्तु हृदय में भीषण संघर्ष चला करता। एक कँपकँपी-सी समस्त धमनियों में दौड़ उठती। उसके सभी प्रयास व्यर्थ हो गये। क्या करे वह? एक तुच्छ नर्स से प्रणय-निवेदन उसके लिये उपयुक्त नहीं; किन्तु उसका सौम्य मुखमण्ल, सौन्दर्य का भोलापन—उसकी मानस-शक्तियाँ जैसे ढीली पड़ जातीं।

◇ ◇ ◇

मंजु आई और बोली : "अब तो ठीक हो गये हैं।"

"हाँ।"—संक्षिप्त रूप में उत्तर दिया उसने। वाणी आगे बोलने को प्रस्तुत न थी।

"मेरी ड्यूटी परसों से परिवर्तित हो गई। यहाँ दूसरी नर्स कार्य करेगी।"

"क्यों ?" अन्यमनस्क-सा उसने पूछा।

"डाक्टर का ऐसा ही आदेश है।"

विजय मौन रहा। मंजु जाने को उद्यत हुई तो पुकारा : "नर्स !"

कृत्रिम अप्रसन्नता से घूमकर बोली : "पीछे से पुकारने का कैसा स्वभाव है आपका ?"

"बैठ जाओ न तनिक"······अनुनय से विजय बोला।

"कहिये ?"

"यदि तुम्हारा नाम लेकर पुकारूँ तो······तुम्हारा नाम क्या है ?"

"मंजु !"

"अति सुन्दर ! किन्तु कहूँ क्या मंजु, वाणी हृदय की भाषा को व्यक्त करना नहीं जानती।"

"आप तो कविता करने लगे।" हँसकर मंजु बोली।

विजय गम्भीर भाव से बोला : "जीवन के कुछ क्षण ऐसे होते हैं, जब मानव की भावनाएँ कवित्वमय हो उठती हैं। क्या कहूँ मंजु, एक तृष्णा जाग उठी है मानस में, नहीं जानता क्यों ?"

दुखित-सी मंजु बोली, : "इस क्यों का उत्तर मेरे पास नहीं है, स्वयं से पूछिये।"

"स्वयं से पूछूँ ? नहीं, मेरे हृदय के स्पन्दन को तुम नहीं सुन पाती ?"

मंजु के मुख पर विवर्णता छा गई। नेत्रों में अश्रु झलक आये। बोली : "आपको दोष कैसे दूँ ? संसार ही ऐसा है विजय बाबू। प्रेम

के नाम पर देने को मेरे पास कुछ नहीं है। मेरा अतीत दूर जा चुका है। रह गई है केवल एक कहानी, उसके आश्रय में जीवन के व्यथित क्षणों को समाप्त करना चाहा था, किन्तु देखती हूँ नारी को इतना भी अधिकार नहीं।"

विजय अपने अपराध की प्रतारणा से दबा जा रहा था। पामर एक दुखी नारी के घावों को छेड़ दिया तूने। मंजु अवरुद्ध कंठ से कुछ रुककर बोली: "आप सैनिक हैं, मैं नर्स। आपका व्रत देश-रक्षा है और मेरा व्रत सेवा; अधिक कुछ नहीं, विजय बाबू। अतीत को स्मृतियों के पालने में सोया रहने दीजिये। जीवन की संध्या में मुझे केवल भाई का स्नेह चाहिये······शीतल और मुग्धकारी, उष्ण और तप्त प्रणय नहीं।"

आहत-सा विजय बोला: "अपराध क्षमा हो मंजु। मुझे अपनी कहानी सुनाओ, किसने तुम्हारे अतीत को अंधकार के तुषार से आच्छादित कर दिया। सुनाओ न अपनी कथा।"

विजय के स्नेहमय आग्रह से वह कहानी सुनाने लगी।

◇ ◇ ◇

"विभाजन का वह विकट संघर्ष, जब मानवता अपने नाम को रोती और नृशंसता मुस्कराती थी। मैंने हँसते-हँसते अपने स्वर्णिम संसार को स्वाहा कर दिया। हाँ! अपने ही हाथों अपने सौभाग्य-सिंदूर को पोंछ डाला। दावाग्नि बन अपने ही सौख्य-उपवन को भस्म कर दिया। किन्तु नहीं—प्रलाप न करूँगी।

"हाँ तो, हमारा कारवाँ आ रहा था। सब सहमे हुए, त्रस्त, प्राणों को मुट्ठी में लिये, भगवान से सतीत्व की भीख माँगते हम भारत की ओर बढ़ रहे थे। तूफान की उत्तुंग तरंगों में बहते हम कूल से बहुत दूर थे। अत्याचार के सागर में नृशंस लहरों के थपेड़े खाते आ रहे थे हम।

"इन साम्प्रदायिक दीवानों की नृशंसता के वृत्त सुने थे मैंने। सौभाग्य

से मार्ग में कोई विपत्ति हमारे समूह पर नहीं आई। सहसा एक स्थान पर स्त्रियों का लोमहर्षक चीत्कार हमने सुना। दूर से हमने देखा गुण्डों का एक समूह कुछ तरुणियों का अपहरण कर रहा था। वे युवतियाँ त्राहि-त्राहि कर रही थीं। उनके संरक्षकों में रक्षा करने की सामर्थ्य न थी। पति भी कर्त्तव्यविमूढ़ खड़े थे। कितनी निर्दयता से वे उन्हें घसीट रहे थे। नारीत्व रुदन कर रहा था।

"मेरे पति यह सब न देख सके। उनका पुरुषत्व ललकार उठा। अपने समूह के दो-चार नवयुवकों को लेकर उन्होंने गुण्डों को ललकार दिया। क्या बताऊँ आपको, पूरे छः फुट लम्बे जवान थे। उनकी वह घन-गम्भीर गर्जना······कायरो ! अपने नेत्रों के सम्मुख अपनी पत्नियों का सर्वनाश, अपहरण देखते तुम्हें लज्जा नहीं आती, धिक्कार है तुम्हारे पुरुषत्व को।···प्रोत्साहन पाकर उनके पति भी आगे बढ़े। भीषण संघर्ष हुआ। गुण्डे भाग निकले। स्त्रियाँ छुड़ा ली गईं। एक बहुत बड़ा तलवार का घाव उनके उदर में लगा था। वस्त्र रुधिर से लथपथ थे। किन्तु मुख अलौकिक दीप्ति से प्रकाशित था। मुस्कराकर बोले। आह ! वह मुस्कान निरुपम थी विजय बाबू। कहा : मैंने पुरुषत्व की प्रतिष्ठा रखी है मंजु !

"मैंने त्रस्त भाव से उनके बदलते रंग को देखा। उनका मुख एकदम श्वेत वर्ण का हो रहा था। रक्त-स्राव से हाथ-पाँव ठंडे पड़ रहे थे। कठिनता से निकटस्थ कैम्प में हम पहुँचे। सूर्य अपने तेज को समाप्त कर क्षितिज में अस्त होने का प्रयास कर रहा था। ठीक वैसे ही मेरा सूर्य भी अनन्त के अंक में छुप जाना चाहता था। यह सूर्य दूसरे दिन फिर उदय होगा किन्तु मेरा सूर्य अस्त हो रहा था······सदैव के लिये। मैंने व्यथित हृदय से उनकी ओर देखा। सम्भवतः मेरे नेत्रों में अश्रु थे। क्षीण कंठ से उन्होंने मुझे पुकारा। मेरा हाथ, अपने हिमानी हाथ में लेकर वे बोले : जा रहा हूँ मंजु !

"मैं रो पड़ी : किसके सहारे अपनी मंजु को छोड़े जा रहे हैं।···

"मन्द स्मित से बोले : घबराना नहीं······ईश्वर पर भरोसा रखो ! सेवा-व्रत लो। वीरों की मृत्यु मर रहा हूँ। मुझे सुख से जाने दो मंजु !

"वह भयंकर काल रात्रि अपने अन्धकार में मेरे दीपक को, मेरे प्रकाश को छीन ले गई, सदैव के लिये। किन्तु उनके वह शब्द कानों में अभी तक गूँजते हैं। हृदय-पट पर अभी भी उन शब्दों का चित्र अंकित है, भावनाओं के सुनहले अक्षरों में उनके शब्द अमर हो गये। उन्हीं अक्षरों को, उन्हीं शब्दों को अपना ध्येय बना अपनी जीवन-नाव को खे रही हूँ।

"उनके पश्चात् कई दिनों तक उन्मादिनी-सी इधर-उधर भटकी। सगा कोई था नहीं; किन्तु उनके हृदय के सम्पूर्ण पुण्य को पाकर मेरे हृदय का पात्र पूर्ण था। दूर के नातेदार भला कब तक पूछते ! अन्त में नर्स का काम आरम्भ किया। अब तो यही मेरा जीवन है। उनका प्रेममय हाथ अब भी अभय का वरदान मुझे दे रहा है। उन्हींकी पावन स्मृति के सहारे मैं इस विकट संसार में अकेली बढ़ती जाऊँगी। संसार की अवहेलना की चिन्ता मुझे नहीं है।"

एक करुण दृष्टि से उसने विजय को देखा। बोली : "बस, सुन ली मेरी कहानी ? आप सैनिक होकर अपने व्रत से विचलित हो गये ! आपके प्राण तो देश की धरोहर हैं विजय बाबू !"

विजय मूक था। मंजु की व्यथापूर्ण कहानी ने उसे चेतना के लोक में पहुँचा दिया। उसका मन पवित्रता की उस प्रतिमा के सम्मुख नत हो उठा। मंजु धीरे-धीरे चली गई।

◇ ◇ ◇

लगभग छः मास पश्चात् मंजु को एक पत्र मिला। लेख अपरिचित था। उत्सुकता से खोला उसने। लिखा था :

"प्रिय बहन !

सैनिक के प्राण देश की धरोहर हैं। तुम्हारे शब्द लिये यह असार संसार त्याग रहा हूँ। काश्मीर की पर्वत-शृंखलाएँ साक्षी हैं कि विजय ने देश के लिये क्या किया ? सम्भव है, दो दिन बाद एक सैनिक के बलिदान की गाथा पुरानी हो जाये; क्योंकि इस पथ पर बलिदान का क्रम चला ही करता है। दीपक बुझते रहते हैं; किन्तु ज्योति से असंख्य दीपक जल जाते हैं। ज्योति कभी नहीं बुझती; किन्तु तुम्हारी पुण्य स्मृतियों में मेरी गाथा कभी समाप्त न होगी।

मेरा मित्र यह पत्र तुम तक पहुँचा देगा।

अच्छा ! विदा !!

तुम्हारा भाई"

मंजु की आँखों से दो अश्रु पत्र पर गिरे; किन्तु डाक्टर की पुकार सुन वह फुर्ती से चली गई, यन्त्रचालित-सी। वह नर्स थी।

बाईं ओर

बरसात का दिवस, कैसा सुहावना, कैसा रम्य ! आठ दिन की भयंकर, सतत उष्णता के उपरान्त बादल नभ-पट पर अपना चित्र खींच रहे थे। अपने एकाधिपत्य से सूर्य भगवान को भी कुछ समय अज्ञातवास के लिये उन्होंने बाध्य कर दिया था। प्रातः तो बरसा भी खूब ! शीतल पवनों के झोंकों में शैत्य का प्रभाव शरद् का आभास दे रहा था। वृक्ष-लताएँ झूम-झूमकर मेघमाला का अभिनंदन कर रहे थे। ऐसे सुहावने समय में घर बैठना कैसा दूभर प्रतीत होता है, यह तो वही अनुभव कर सकते हैं जिनके जीवन में चिन्ता ने अभी पदार्पण नहीं किया, आह्लाद जिनका सहचर है और अल्हड़पन जिनकी धरोहर : जहाँ मस्ती का निर्द्वन्द्व साम्राज्य है।

अविनाश ऐसी ही भीगती आयु का है। अत्यन्त सरलता से कुर्सी पर टाँगे फैलाये, घुटनों पर पुस्तक रखे प्राकृतिक शोभा का आनन्द ले रहा था। वायु के झकोरों से पुस्तक के पन्ने फड़फड़ाने लगे तो उसने पुस्तक बन्द कर दी। उलझी हुई लटों को मस्तक से पीछे किया। एक खीझ-सी उसके मुख को विक्षिप्त बना रही थी। उसे बड़ा बुरा लग रहा था। कल ही उसने मित्रों के सम्मुख पिकनिक का कार्य-क्रम रखा

"मुझे क्या ज्ञात था कि तुम हवा के पहियों पर चढ़ आओगे। अभी लो ।"

◇ ◇ ◇

छः के छः मित्र एक दूसरे के कंधों पर हाथ रखे पंक्ति-बद्ध साइकल चला रहे थे। दूर से उड़ते हुए पक्षियों की पंक्ति-सदृश वे बढ़ रहे थे। वातावरण मस्ती के उपकरण जुटा रहा था। नन्ही बुन्दियों की फुहारें पड़ रही थीं।

कहीं पर घुटनों पानी में खड़े धान आरोपण करते कृषकगण तथा कृषक-रमणियों के कोकिल-कंठ की सुदूर से आती हुई मधुर ध्वनि से भास होता, सावन ने जैसे उनके जीवन में नव चेतना जाग्रत कर दी थी।

कहीं रहट पर बैठा ग्रामीण बालक वर्षा के साथ लोक-गीत के तार छेड़ रहा था। कैसा प्रसन्न था यह संसार! उन नागरिक लड़कों के लिये कितना अद्भुत था, कैसा मनोरंजक! यह दृश्य उन्हें मुग्ध कर रहे थे। कितनी मनोज्ञता प्रकृति के आँचल में है! हर्ष को गाने का शौक था, गला मधुर था फिर यह मस्त, मादक वातावरण। वह गाने लगा—

नाचो नाचो प्यारे मन के मोर,

चारों दिशाओं में रिमझिम का राग

सरगम का साज छाया है आज

तभी सामने से आती एक सैनिक लारी ने उन्हें बिखर जाने का आदेश दिया। तीन-तीन की टोलियाँ सड़क के दोनों घेरों पर हो गईं। सुरेश की साइकल फिसलते-फिसलते बची। एक कहकहा उठकर समीर के संग अज्ञात लोक को जा मिला। आगे कुछ दलदल थी। अविनाश बोला: "अच्छी पिकनिक है?"

"अरे, आम भी तो खाने हैं।" विनोद बोला।

"प्रमोद से कह देंगे, यह हमारे पसीने की कमाई है"—सुरेश ने कहा।

"भई, जब सुन्दर, पक्के ग्राम स्वयं तोड़-तोड़कर खायेंगे, सब भूल जायेगा"—हर्ष ने टोका।

"श्रीमान् की लार तो अभी से टपक रही है, क्यों ?"

"देखते हो, विपरीत दिशा से आ रही तीखी पवन तीरों की बोछार कर रही है। तुम ठहरे हल्के-फुल्के, अपने राम तो पूरे तीन मन के पहलवान।"

"वाह रे, मेरे पहलवान"—और अविनाश ने विनोद को हल्का-सा धक्का दिया। वह गिरते-गिरते बचा। बातों ही बातों में पक्की सड़क समाप्त हो गई। नहर की धारा अपने यौवन पर इठलाती द्रुत गति से बही जा रही थी। यहीं से उन्हें घूमना था। किस ओर घूमना है, इस प्रश्न पर विवाद छिड़ गया। अविनाश दाईं ओर घूमने के पक्ष में था; किंतु हर्ष और विनोद बाईं ओर। अविनाश कह रहा था : "मुझे उसने कई बार कहा है।"

"और हमें नहीं कहा है क्या ? साहिब आप मस्तिष्क रखते हैं तो थोड़ा-सा हमें भी मिला है।"

"मुझे इसमें संदेह है, मेरी स्मृति तुम सबसे अच्छी है।"

"वाह भई, हमारी दोनों की सूझ को तुम मिथ्या सिद्ध कर रहे हो ? भाई साहिब बात मानिये।"

अविनाश संशय में पड़ गया। ठीक तो है यह दो हैं। एक ही राय है, मुझे भ्रम हो सकता है। खीझकर बोला—"अच्छा चलो।"

नहर के किनारे पगडंडी पर वे बाईं ओर घूम पड़े। नहर की धारा के साथ ही साथ द्रुमावलि बहुत दूर तक चली गई थी। उन्हींके नीचे वे मौन भाव से चले जा रहे थे। अविनाश खिन्न था। हर्ष की कला ने फिर चुटकी ली—

उमड़ घुमड़ कर बदरा आयें
भीनी भीनी बरसे फुहार

विनोद ने बढ़ावा दिया : "हाँ—झीनी-झीनी बरसे फुहार···ओ।" अविनाश की ओर देखकर हँस पड़ा। अविनाश की हँसी आवरण तोड़ खिल उठी। बोला—"भाँड हो तुम सब !"

बाग़ दिखाई दे रहा था। रस-भरे, पीले-पीले आम डालियों पर लटक रहे थे। मित्र-मण्डली ने सोचा प्रमोद आगे बढ़ स्वागत करेगा। किंतु निराश होना पड़ा। आगे बढ़े, बाग़ में घूमे, प्रमोद दिखाई न दिया। रखवाले से पूछा : "क्यों भाई, प्रमोद कहाँ है ?"

"कौन प्रमोद, हम नहीं जानते"—रुक्षता से रखवाला बोला।

"बाबू नंदलाल का बाग़ यही है न ?"

रखवाले की त्यौरियाँ बदल गईं : "हमारा अपना बाग़ है, नंदलाल यहाँ कोई नहीं।"

सबके चेहरे मलीन पड़ गये। छूते ही बाजी उल्टी हो गई। फिर आगे बढ़े। तीन-चार बाग़ों में पूछा, सब स्थानों पर निराशा का उपहार मिला। खीझ गये सब। प्रमोद पर दाँत पीसने लगे। अच्छा ! बच्चू से ऐसा बदला लेंगे कि छठी का दूध स्मरण आ जाये।

दिन भी कैसा है। पाँच बजे ही सात बजे जैसा लगता है। अन्धियारा सर्वत्र व्याप्त होने लगा है। पश्चिम में भुवन-भास्कर अन्तिम झाँकी दिखा अस्त होने का उपक्रम कर रहे थे। सभी थक गये थे, निराशा ने उन्हें परास्त कर दिया था। अंग-अंग दुख रहा था और वस्त्र भीग चले थे। सुरेश से न रहा गया। उसने उछलकर आम तोड़ लिया। सबने अनुकरण किया। फिर ठहाका मारकर हँस पड़े। इस आह्लाद में मार्ग का कष्ट, मन की खीझ मिट चली। बाग़ का रक्षक थोड़ी दूर पर पक्षियों को उड़ा रहा था। हँसी के उस स्वर से चौंका। दूर से उसने पुकारा—"कौन है बाग के उस छोर पर ?"

इधर भी नवयुवक थे। सुरेश कड़ककर बोला—"यम के दूत !"

रखवाला निकट आ गया था। कंधे पर लट्ठ रखे वह सचमुच यम का दूत ही दीखता था। उसकी आकृति देख सब लड़के हँस पड़े। प्रतिद्वन्द्विता में छः को सन्न देख रखवाला हँस पड़ा : "यहाँ तो बाबू लोग ही चोर हैं।"

"चोर मत कहो, नंदलाल का बाग कहाँ है ?"

"मैं क्या जानूँ ? यह सब गाँववालों के बाग हैं। यहाँ और किसीका बाग नहीं है।"

"आम कितने सेर हैं ?"

"पाँच आने सेर।"

सब ने जेबें टटोलीं। पिकनिक करने आये थे, पैसे के नाम पर वहाँ एक पाई भी न थी। हर्ष ने हँसकर कहा : "मियाँ इतना लम्बा-चौड़ा बाग़ है, दो-चार सेर यों ही खिला दो।"

"सच बाबू, दो हजार का घाटा है, मनों आम थे, आँधियों ने सत्यानाश कर डाला। तुम नहीं जानते यह झंझट..."

सुरेश खिन्न हो बोला : "अरे भई, क्या कहें भाग्य को, एक मित्र ने बुलाया था। उनका आम का बाग बहुत बड़ा है। पर वह तो जादू के चरखे की भाँति न जानें कहाँ लुप्त हो गये।"

"अच्छा भाई मुँह मीठा ही करा दो।" ढीठ बन विनोद बोला।

अंत में रखवाला एक वृक्ष से छः आम तोड़ ही लाया : "लो बाबू, आये हो तो आवभगत ही कर दूँ। आम खाओगे तो याद करोगे।"

सचमुच आम क्या थे मधुर रस की प्यालियाँ थीं। गुठलियों तक रगड़ के छोड़े। रखवाला बिना पैसों के देने को उद्यत न था। पराजित-से लौट चले। रही-सही कसर वर्षा ने पूरी की। कच्ची पगडंडी, मूसलाधार वर्षा और साइकल। भूमि रपटीली हो गई थी, साइकल चलाना

कठिन था। अंत में पाँव-पाँव चलना पड़ा। कपड़ों से पानी निचुड़ रहा था। कीचड़ से सनकर जूते मन भर के हो गये थे और मुख को बूंदों ने अपना क्रीड़ा-गृह बना रखा था। कानों को हाथ लगाया, फिर नहीं आयेंगे ऐसी पिकनिक पर। घर होते तो पकौड़े या मालपूड़े उड़ते। बुरा हो प्रमोद का।

शहर पहुँचे तो विद्युत आलोक-माला जल उठी थी। सबने पहले प्रमोद की खबर लेने की ठानी। हज़रत फिर ऐसी शैतानी करने का साहस न करे। नाक से लकीरें निकलवायेंगे।

◇ ◇ ◇

प्रमोद कुछ विश्रांत और विक्षिप्त बरामदे में खड़ा था। मित्र-मंडली को देख चिल्लाया : "कहाँ मर गये थे तुम सब ?"

हाँफते हुए अविनाश बोला : "दम लेने दो बच्चू !"

उसे धकेल कर सुरेश बोला : "बायाँ कान इधर कर दो तनिक ऐंठ दूं।"

"और श्रीमान् मैं तो ऐसी कलाबाज़ी दिखाऊँगा कि स्वर्ग की सैर हो जाये।"

प्रमोद पीछे हटता हुआ बोला : "न बाबा, इस सेना का सामना करने की शक्ति नहीं है यहाँ—किन्तु उल्टा चोर कोतवाल को डांटे, पाँच घंटे पूरे खराब करवाये तुम सबने।"

अविनाश मुख का पानी निचोड़ता हुआ बोला : "तुम्हारा बाग़ तो इन्द्रजाल का कौतुक हो गया। आठ मील टाँगें भी तोड़ीं पर बाग न मिला।"

हर्ष नयन मूंदे सीढ़ियों पर बैठा था। अविनाश बक रहा था, सुरेश उछल रहा था और विनोद और प्रभात जूते उतार वस्त्रों का पानी निचोड़ रहे थे। यह अवस्था देख प्रमोद को बरबस हँसी आ गई। बिगड़कर अविनाश बोला : "हँसते लज्जा नहीं आती तुम्हें। बड़े

निर्लज्ज हो," "चुल्लू भर पानी में डूब मरो।" सुरेश ने अधूरे वाक्य को पूर्ण कर दिया।

"अरे क्रुद्ध क्यों होते हो? आमों का टोकरा भीतर रखा है। शान्त हो जाओ, वस्त्र बदल लो।" आग्रह से प्रमोद बोला।

मित्र-मंडली उसके व्यवहार से शांत हो गई: "फिर भी गये कहाँ थे तुम लोग?" प्रमोद ने पूछा।

"ठीक तुम्हारे बताये मार्ग पर, तीन मील पक्की सड़क फिर नहर के बाईं ओर।"

"बाईं ओर?" आश्चर्य से प्रमोद ने कहकहा लगाया: "मैंने तुम्हें बाईं ओर बताया था? वाह रे मेरे बुद्धू!"

हँसी के कहकहों से घर गूँज उठा। अनुचर बाल्टी में आम रख गया। सातों मित्र मुस्करा रहे थे और गगन में मेघ आवरण को हटा चन्दा हँस रहा था।

प्र० अ० ३-५८ (३०)